भर्तृहरि और उनका भाषादर्शन

राधावल्लभ त्रिपाठी

आइना

05radhavallabh:Layout 1 7/28/2017 5:00 PM Page 68

हम भाषा से जूझ रहे हैं।
हम भाषा के साथ संघर्ष में उलझे हुए हैं।
—विट्गेंस्टाइन (*कल्चर ऐंड वेल्यू* : 13 हि.)

व्याकरणशास्त्र और दर्शन की परम्परा में *वाक्यपदीयम्* के प्रणेता भर्तृहरि का एक मौलिक विचारक के रूप में अमिट स्थान है। भर्तृहरि के व्याकरण पर दो अन्य ग्रंथ भी प्राप्त होते हैं— *महाभाष्य* की *त्रिपदीदीपिका टीका*, जो अधूरी मिलती है तथा *शब्दधातुसमीक्षा*। *मीमांसासूत्रवृत्ति, वेदांतसूत्रवृत्ति* आदि ग्रंथों के प्रणेता भी भर्तृहरि माने जाते हैं। एक परम्परा इनके द्वारा रचे गये बारह शतककाव्यों का भी उल्लेख करती है।

भर्तृहरि नाम से अनेक विचारक या रचनाकार संस्कृत की परम्परा में हुए हैं। भर्तृहरि एक प्राचीन सम्राट् भी थे। अनुश्रुतियों में इन्हें कहीं राजा विक्रमादित्य का समकालीन माना गया है, तो लोककथाओं और लोकनाट्य परम्परा में इनका संबंध गुरु गोरखनाथ के साथ माना गया है। भर्तृहरि नाम के कवि ने *नीतिशतक, शृंगारशतक* तथा *वैराग्यशतक* ये तीन शतककाव्य लिखे। शतककाव्य परम्परा में भर्तृहरि के शतक सर्वाधिक लोकप्रिय हैं और और वे पहली पंक्ति के कवियों में गिने जाते हैं।

भट्टिकाव्य की *कंदर्पचक्रवर्तीकृत टीका* में कवि भट्टि तथा भर्तृहरि को एक ही व्यक्ति बताया गया है। नारायण विद्याविनोद तथा भरतमल्लिक इन दो टीकाकारों ने भी *भट्टिकाव्य* का प्रणेता भर्तृहरि को माना है। नारायण विद्याविनोद ने तो भर्तृहरि के पिता का नाम श्रीधर बता दिया है,[1] जब कि कवि भट्टि ने अपने महाकाव्य में अपने आश्रयदाता का नाम श्रीधरसेन बताया है। इन टीकाकारों ने भट्टि और भर्तृहरि की अभिन्नता को ले कर या तो मनगढ़ंत कल्पनाएँ की हैं, या उन्हें भ्रांति हुई है। *भट्टिकाव्य* या *रावणवधमहाकाव्य* के प्रणेता महाकवि भट्टि भी एक बड़े वैयाकरण थे, और पाणिनिव्याकरण के नियमों के दृष्टांत के रूप में उन्होंने अपना महाकाव्य लिखा— इस तथ्य के कारण तथा भट्टि शब्द को संस्कृत के भर्तृ का तद्भव मान लेने के कारण टीकाकारों में भर्तृहरि और कवि भट्टि के एक ही व्यक्ति होने की भ्रांति पनपी है।

वाक्यपदीयकार भर्तृहरि, शतकत्रय के प्रणेता भर्तृहरि, सम्राट् तथा गुरु गोरखनाथ के शिष्य भर्तृहरि तथा भट्टिकाव्य के प्रणेता जो भट्टि के नाम से प्रसिद्ध हैं, और जिन्हें भ्रमवश कहीं कहीं भर्तृहरि मान लिया गया है— इन चारों में भट्टिकाव्य के प्रणेता भट्टि तो निश्चय ही शेष तीन से भिन्न हैं। वाक्यपदीयकार भर्तृहरि और शतककार भर्तृहरि को प्राचीन परम्परा में तथा कुछ आधुनिक विद्वानों ने भी एक व्यक्ति माना है। इस विषय में यह श्लोक सुब्रह्मण्यम् अय्यर ने उद्धृत किया है—

महान्तः कवयः सन्तु महान्तः सन्तु पण्डिताः।
महाकविर्महाविद्वानेको भर्तृहरिर्मतः॥[2]

(महान् कवि हुए होंगे, महान् पंडित भी हुए होंगे, पर महाकवि और महाविद्वान् तो अकेले भर्तृहरि ही माने गये।)

सत्रहवीं शताब्दी के महाकवि रामभद्र दीक्षित ने अपने *पतंजलिचरित* में वाक्यपदीयकार भर्तृहरि तथा शतकत्रयप्रणेता भर्तृहरि को अभिन्न माना है।

राजा भर्तृहरि निश्चित रूप से वाक्यपदीयकार भर्तृहरि से अलग हैं।

दसवीं शताब्दी के आचार्य धनिक ने भर्तृहरि के शतक तथा उनके *वाक्यपदीयम्* से अंश उद्धृत किये हैं, अतः भर्तृहरि दसवीं शताब्दी के पहले हो चुके थे। चीनी यात्री इत्सिंग ने व्याकरणग्रंथ के

---

[1] *हिस्ट्री ऑफ़ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर*, कृष्णमाचारी : 140.
[2] भर्तृहरि का *वाक्यपदीय* : 1 पर उद्धृत, स्रोत अप्राप्य.

प्रणेता के रूप में भर्तृहरि का उल्लेख किया है, तथा बताया है कि भर्तृहरि के निधन के पश्चात् चालीस वर्ष बीत चुके हैं। इसके हिसाब से भर्तृहरि के निधन का समय 651 के लगभग सिद्ध होता है। यदि *वाक्यपदीयम्* नामक ग्रंथ के प्रणेता भर्तृहरि तथा शतककार भर्तृहरि को एक व्यक्ति मान लिया जाए, तो भर्तृहरि का समय सातवीं शताब्दी के पहले सिद्ध होता है।

इत्सिंग ने भर्तृहरि के बारे में लिखा है कि वह सात बार बौद्ध धर्म में दीक्षित हुआ और सातों बार वापस गृहस्थ जीवन में लौट आया। यह उल्लेख शतककार भर्तृहरि के बारे में हो सकता है। शतककार भर्तृहरि लोकगाथाओं के नायक हैं। बनारस के निकट तथा उज्जैन में उनके नाम गुफ़ाएँ हैं। वाक्यपदीयकार भर्तृहरि का बौद्धधर्म में रत्ती भर भी झुकाव नहीं है। वे तो वेद और आगम की परम्परा में दीक्षित हैं। सम्भवत: इत्सिंग को भी कवि भर्तृहरि और वैयाकरण भर्तृहरि को ले कर भ्रांति है। वास्तव में ये दोनों एक व्यक्ति हो ही नहीं सकते।

सुब्रह्मण्यम् अय्यर ने उचित ही शतककार या कवि भर्तृहरि को वैयाकरण भर्तृहरि से भिन्न माना है। उनके अनुसार कवि भर्तृहरि लोकगाथाओं के नायक हो सकते हैं, न कि वाक्यपदीयकार या वैयाकरण भर्तृहरि।[3] वैयाकरण भर्तृहरि के गुरु वसुरात का समय 430 से 490 के बीच मानते हुए अय्यर ने भर्तृहरि का समय 450 से 510 के आसपास कूता है। बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग का समय 480 से 540 के बीच है। दिङ्नाग ने भर्तृहरि की कारिकाओं का उपयोग किया है। इसके कुछ समय बाद ही शांतरक्षित तथा उनके टीकाकार कमलशील *वाक्यपदीयम्* को भर्तृहरि की कृति स्वीकार करते हुए भर्तृहरि को उद्धृत करते हैं। पतंजलि के बाद *काशिकावृत्ति* व्याकरण के क्षेत्र में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कृति मानी जाती है। काशिकाकार ने भी 'शिशुक्रंद'— इत्यादि पाणिनि के सूत्र की वृत्ति में *वाक्यपदीयम्* का संदर्भ दिया है। *शतपथ ब्राह्मण* पर अपने भाष्य में हरि स्वामी ने *वाक्यपदीयम्* की पहली कारिका को उद्धृत किया है। हरिस्वामी का समय 638 के आसपास है। इसी कारिका को कुमारिल भट्ट ने भी उद्धृत किया है।[4] अत: वाक्यपदीयकार भर्तृहरि हरिस्वामी तथा कुमारिल भट्ट (छठी शताब्दी) से पहले हुए, यह निश्चित है। पतंजलि के *योगसूत्र* पर व्यास का लिखा हुआ भाष्य है, इसमें भी भर्तृहरि की कारिकाओं दो स्थानों पर संदर्भ लिया गया है। पी.वी.काणे भाष्यकार व्यास का समय पाँचवीं शताब्दी मानते हैं। छठी शताब्दी के पूर्वार्ध में *अष्टांगहृदय* नामक *आयुर्वेद ग्रंथ* के रचयिता वाग्भट हुए। उनके शिष्य इंदु ने *वाक्यपदीयम्* से दो श्लोक उद्धृत किये हैं। इन सब उल्लेखों से भर्तृहरि का समय 400 के आसपास माना जाना चाहिए।

वाक्यपदीयम् प्राचीनकाल से ही बौद्ध, जैन व ब्राह्मण परम्परा के शास्त्रीय ग्रंथों में बहुश: उद्धृत होता आया है। उस पर अनेक टीकाकारों ने हाथ लगाया है। ऐसी स्थिति में *वाक्यपदीयम्* के मूल पाठ के साथ घालमेल भी हुआ है। आश्चर्य की बात है कि भर्तृहरि के समय से लगा कर इक्कीसवीं शताब्दी तक संस्कृत के अपने समय के श्रेष्ठ पण्डितों ने *वाक्यपदीयम्* पर टीकाएँ लिखी हैं, तथा अत्यंत सुयोग्य विद्वानों ने इसका प्रामाणिक सम्पादन करने का प्रयास किया है। पर कदाचित् किसी ने भी अभिनवगुप्त, मम्मट आदि साहित्यशास्त्र के आचार्यों द्वारा *वाक्यपदीयम्* या भर्तृहरि के नामोल्लेख के साथ दिये गये इस ग्रंथ के उद्धरणों का मिलान मूल *वाक्यपदीयम्* से करने का प्रयास नहीं किया।

वाक्यपदीयम् की टीकाएँ

वाक्यपदीयम् पर प्राचीन काल से वर्तमान समय तक अनेक टीकाएँ लिखी गयीं। पुरानी टीकाओं में नीचे लिखी पाँच विशेष उल्लेखनीय हैं।

---

[3] भर्तृहरि का *वाक्यपदीय* : 1.

[4] *वाक्यपदीयम्*, ब्रह्मकाण्ड, (सं.) उमाशंकर शर्मा ऋषि, भूमिका : 7.

05radhavallabh:Layout 1 7/28/2017 5:00 PM Page 70

(1) वृत्ति— इसके प्रणेता हरिवृषभ हैं। यह *वाक्यपदीयम्* पर सबसे पुरानी टीका है, जो वृत्ति या केवल टीका के नाम से जानी जाती है। यह पहले काण्ड पर तो पूरी मिलती हैं, दूसरे काण्ड पर टुकड़ों में ही प्राप्त है।

(2) लघुवृत्ति— इसके प्रणेता भी हरिवृषभ ही हैं।

ये दोनों टीकाएँ भर्तृहरि के अभिप्रायों को बारीकी से खोलती हैं, और *वाक्यपदीयम्* के लिए वे इस तरह पूरक बन गयी हैं कि कई विद्वानों ने इनका रचयिता भर्तृहरि को ही माना है। *वाक्यपदीयम्* के आधुनिक व्याख्याकारों में पण्डित चारुदेव शास्त्री ने अनेक संदर्भों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि वृत्ति तथा लघुवृत्ति के प्रणेता हरिवृषभ वास्तव में भर्तृहरि स्वयं हैं। दूसरी ओर रघुनाथ शर्मा ने अपनी *अम्बाकर्त्री* टीका में हरिवृषभ की व्याख्याओं में अनेकत्र असंगति बताने का प्रयास किया है।

(3) प्रकाश टीका— प्रकाश नाम से दो अपूर्ण टीकाएँ *वाक्यपदीयम्* पर मिलती हैं। एक के प्रणेता पुण्यराज हैं। उनका प्रकाश केवल दूसरे काण्ड पर ही मिला है। पुण्यराज का समय दसवीं शताब्दी के आसपास माना गया है।[5]

(4) तीसरे काण्ड पर प्रकाश नाम से टीका हेलाराज की प्राप्त है। उमाशंकर शर्मा ऋषि आदि कतिपय विद्वानों ने इस टीका का नाम प्रकीर्णप्रकाश माना है। टीकाकार हेलाराज भूतिराज के पुत्र तथा काश्मीर नरेश मुक्तापीड के मंत्री के वंशज थे। कल्हण के अनुसार हेलाराज ने बारह हज़ार श्लोकों में *पार्थिवावली* नामक काश्मीर के इतिहास का एक ग्रंथ लिखा था। दूसरी ओर अभिनवगुप्त अपने गुरु इंदुराज को भूतिराज का पुत्र बताते हैं। तब यह सम्भव है कि हेलाराज तथा इंदुराज दोनों भाई हों। उमाशंकर शर्मा ऋषि ने हेलाराज को अभिनवगुप्त का गुरु बताया है, जब कि अभिनवगुप्त अपने गुरुजनों का विशद विवरण देते हैं, उसमें वे भूतिराज की चर्चा करते हैं, भूतिराज के दूसरे पुत्र तथा हेलाराज के भाई इंदुराज पर तो एक शिष्य के रूप में वे अपार श्रद्धा रखते हैं, पर हेलाराज का गुरु के रूप में स्मरण नहीं करते। ऋषि ने अपने कथन में कोई प्रमाण नहीं दिया है।

हेलाराज ने *वाक्यपदीयम्* के पहले काण्ड पर भी *शब्दप्रभा* नाम से टीका लिखी थी, पर यह अब मिलती नहीं है।

(5) फुल्लराज की टीका तीसरे काण्ड के कुछ अंशों पर मिलती है।

आधुनिक पण्डितों में द्रव्येश झा, सूर्यनारायण शुक्ल, नारायणशास्त्री, रघुनाथ शर्मा आदि ने *वाक्यपदीयम्* पर टीकाएँ लिखी हैं। इनमें रघुनाथ शर्मा की *अम्बाकर्त्री* व्याख्या *वाक्यपदीयम्* पर सबसे विशद विमर्श करती है। शर्मा जी ने *वाक्यपदीयम्* के साथ साथ हरिवृषभ की वृत्ति पर भी टिप्पणियाँ की हैं, तथा तृतीयकाण्ड पर हेलाराज के *प्रकीर्णप्रकाश टीका* को भी उनकी *अम्बाकर्त्री व्याख्या* आटीकित करती है।

आधुनिक दृष्टि से भर्तृहरि पर विमर्श तथा *वाक्यपदीयम्* का अनुवाद करने वाले विद्वानों में सुब्रह्मण्य अय्यर तथा गुजराती अनुवादक जयदेवभाई मो. शुक्ल उल्लेखनीय हैं।

विषयवस्तु

भर्तृहरि अपने *वाक्यपदीयम्* के विषय के बारे में आरम्भ में ही आठ विषय गिनाते हैं— द्विविध अर्थ, द्विविध शब्द, द्विविध संबंध तथा द्विविध फल। अपोद्धार पदार्थ तथा स्थितलक्षण— ये दो प्रकार के अर्थ हैं। अन्वाख्येय शब्द तथा प्रतिपादक शब्द— ये दो प्रकार के शब्द हैं। कार्यकारणभाव संबंध तथा योग्यता संबंध— ये दो प्रकार के संबंध हैं। इस शास्त्र का फल दो प्रकार का है अदृष्ट फल तथा

---

[5] 'प्रोसीडिंग्ज़ ऑफ़ दि फ़र्स्ट इंटरनेशनल कांफ्रेंस आन भर्तृहरि', मसाकी हतोरी का लेख : 137.

प्रत्यय या अर्थावबोध।[6] वाक्यार्थों से पदार्थों (वाक्यप्रयुक्त अलग-अलग शब्दों के अर्थों) को निकाल कर अलग-अलग बताना तथा पदार्थों से भी प्रकृति (मूल शब्द या धातु) तथा उसमें जुड़े प्रत्ययों को निकाल कर अलग बताना अपोद्धार है। वाक्यार्थ अखण्ड और स्थिर होने के कारण स्थितलक्षण कहा गया है। प्रकृति और प्रत्यय के विभाजन के द्वारा बताए गये शब्द अन्वाख्येय शब्द हैं। प्रकृति, प्रत्यय, पद, वाक्य इन सब से मिल कर बना हुआ शब्द प्रतिपादक शब्द है।

वाक्यपदीयम् में तीन काण्ड हैं— ब्रह्मकाण्ड, वाक्यकाण्ड और पदकाण्ड। तीसरे काण्ड को प्रकीर्णकाण्ड भी कहा जाता है। ब्रह्मकाण्ड में शब्दब्रह्म का स्वरूप तथा उससे होने वाली सृष्टि-प्रक्रिया पर विचार किया गया है। यह काण्ड आकार में सबसे छोटा है, चिंतन में उतना ही गहरा है। वाक्यकाण्ड में 467 कारिकाओं में वाक्य और वाक्यार्थ के स्वरूप पर विमर्श है, प्रसंगतः इसी में व्याकरण दर्शन की परम्परा पर भी संक्षिप्त चर्चा है। तीसरा प्रकीर्ण काण्ड आकार में सबसे विशाल है। इसमें 1327 कारिकाएँ हैं, जिन्हें विषयानुसार कई समुद्देशों या प्रकरणों में विभाजित किया गया है—इन समुद्देशों में जाति, द्रव्य, संबंध, गुण, दिक्, साधन, क्रिया, काल, पुरुष, संख्या, लिंग, वृत्ति या समास आदि वैयाकरणिक की भाषा में निष्पत्ति व तत्संबंधी प्रक्रियाओं का निरूपण है।

भर्तृहरि ने वाक् या वाणी के तीन रूप माने हैं— पश्यंती, मध्यमा तथा वैखरी। इनमें से पश्यंती का पहले काण्ड में, मध्यमा का दूसरे में तथा वैखरी का तीसरे में विवेचन है— यह माना जाता है।

भारतीय चिंतन परम्परा में *वाक्यपदीयम्* एक चमत्कार ही है। दर्शन के अनेक सम्प्रदायों के लिए यह ग्रंथ अपने रचनाकाल के तुरंत बाद ही एक चुनौती भी बना। उसकी निष्पत्तियों और उपपत्तियों से चकित हो कर कुछ दार्शनिकों ने भर्तृहरि के मत को उपहास के योग्य तक मान लिया, पर छठी शताब्दी के बाद दर्शन शास्त्र के क्षेत्र में भर्तृहरि की कोई भी गम्भीर विचारक अनदेखी नहीं कर सकता था।

भारतीय चिंतन परम्परा में *वाक्यपदीयम्* एक चमत्कार ही है। दर्शन के अनेक सम्प्रदायों के लिए यह ग्रंथ अपने रचनाकाल के तुरंत बाद ही एक चुनौती भी बना। उसकी निष्पत्तियों और उपपत्तियों से चकित हो कर कुछ दार्शनिकों ने भर्तृहरि के मत को उपहास के योग्य तक मान लिया, पर छठी शताब्दी के बाद दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में भर्तृहरि को कोई भी गम्भीर विचारक अनदेखा नहीं कर सकता था। ऊपर चर्चित कुमारिल भट्ट और प्रभाकर जैसे मीमांसक तथा शांतरक्षित और कमलशील जैसे बौद्ध दार्शनिकों के अतिरिक्त भर्तृहरि को उल्लेखित या उद्धृत करने वाले दार्शनिकों की लम्बी सूची बनाई जा सकती है, जिनमें भव्य, शैव दार्शनिकों में सोमानंद, उत्पलदेव और अभिनवगुप्त; शंकराचार्य, वाचस्पति मिश्र और पार्थसारथि मिश्र जैसे भारतीय दर्शन परम्परा के स्तम्भ सम्मिलित हैं।

---

[6] अपोद्धारपदार्था ये ये चार्थाः स्थितलक्षणाः।
अन्वाख्येयाश्च ये शब्दा ये चापि प्रतिपादकाः॥
कार्यकारणभावेन योग्यभावेन च स्थिताः।
धर्मे ये प्रत्यये चाङ्गं संबंधाः साध्वसाधुषु॥
ते लिङ्गैश्च स्वशब्दैश्च शास्त्रेऽस्मिन्नुपवर्णिताः।
स्मृत्यर्थमनुगम्यन्ते केचिदेव यथागमम्॥ *वाप.* 1.24–26॥

05radhavallabh:Layout 1 7/28/2017 5:00 PM Page 72

शब्दब्रह्मवाद

वाक्यपदीयम् की पहली कारिका में भर्तृहरि ने कहा है – शब्दतत्त्व अनादिनिधन (जिसकी न शुरुआत है, न अंत) और अक्षर (क्षरित न होने वाला) है। वही ब्रह्म है। यह अर्थ के रूप में विवर्तित होता है, जिससे जगत् की प्रक्रिया या रचना होती है।[7]

भर्तृहरि के दर्शन में शब्द परम सत्ता है, इसके समानातंर या इसके ऊपर अन्य किसी सत्ता की चर्चा वे नहीं करते। उनके मत को इसलिए शब्दाद्वैतवाद भी कहा जाता है। अभिनवगुप्त का दर्शन जिस प्रकार शिव को एकमात्र परम तत्त्व के रूप में स्वीकार करने के कारण शिवाद्वैत है,उसी तरह भर्तृहरि का मत शब्दाद्वैत है।

शब्द को अनादिनिधन कहने के साथ भर्तृहरि ने उसे अक्षर भी कहा है। अक्षर का सामान्यत: अर्थ होता है— क्षरित या नष्ट न होने वाला। पर यह बात तो शब्द को अनादिनिधन कहने से ही गतार्थ हो जाती है। इसलिए अय्यर आदि कतिपय विद्वान् यहाँ अक्षर शब्द का अन्य अर्थ लेते हैं, अक्षर यहाँ वर्णमाला में पठित तथा उच्चरित होने वाला अक्षर है, जिसे अंग्रेज़ी में फ़ोनीम कहा जाता है। तब भर्तृहरि का आशय है कि यही अनादिनिधन शब्द अक्षर के रूप में भी विवर्तित होता है और यही अर्थ के रूप में भी विवर्त बनता है।

शब्द ही हमारी रोज़मर्रा की दुनिया के पदार्थों का ज्ञान कराते हैं। अत: जगत् की वस्तुओं के रूप में भी ये ही विवर्त बनाते हैं यह कहना उचित है। इसलिए आगे भर्तृहरि कहते हैं—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके य: शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥ *वाप.* 1.123॥

(संसार में ऐसा कोई बोध नहीं जो शब्द का अनुगम किये बिना सम्भव हो पाता हो। जितना भी ज्ञान यहाँ प्राप्त होता है, वह शब्द से अनुविद्ध या शब्द में पिरोया हो कर भी भासित होता है।)

इस प्रकार प्रमाणमीमांसा से यह सारा विमर्श जुड़ जाता है। दर्शनों में प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द आदि प्रमाण माने गये। पर इन प्रमाणों का विमर्श भी किसी भाषा में ही होगा अत: इन प्रमाणों से पहले शब्दतत्त्व है वाक् या शब्दतत्त्व के बिना न तो किसी तरह की कोई प्रमाणमीमांसा सम्भव है, न संसार के पदार्थों का कोई बोध सम्भव है। अत: शब्दतत्त्व ही एकमात्र वास्तविकता है— यह मानना पड़ता है। इस पर प्रश्न आता है कि बच्चा या गूँगा जो बोल नहीं पाता, संसार के पदार्थों का बोध तो उसको भी होता है, तब यह कहना सही नहीं है कि संसार का बोध शब्दतत्त्व के बिना असम्भव है। भर्तृहरि की ओर से इसका उत्तर यह बनता है कि शब्दतत्त्व से उनका आशय भाषा के उच्चरित या बोले जाने वाले रूप से नहीं है, वाग्रूपता से है, जिसका अनुवाद तंद्रा पटनायक ने वर्बलाइज़ेबिलिटी किया है।[8] इसलिए भर्तृहरि कहते हैं—

वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती।
न प्रकाश: प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी॥ *वाप.* 1.124॥

(यदि शाश्वत वाग्रूपता या प्रत्येक बोध के शब्दमय होने की सनातन स्थिति निकल कर चली जाए, तो प्रकाश भी प्रकाशित नहीं हो पाएगा क्यों कि प्रकाश का प्रत्यविमर्श यह वाग्रूपता ही कराती है।)

शैवदर्शन के आचार्य सोमानंद तथा उत्पलदेव भर्तृहरि के बाद हुए। उन्होंने स्वात्मविमर्श के लिए अहंप्रत्यवमर्श शब्द का प्रयोग किया है, जो *वाक्यपदीयम्* के प्रभाव से सम्भाव्य है।

---

[7] अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यत: ॥ *वाप.* 1.1॥

[8] *शब्द – अ स्टडी ऑफ़ भर्तृहरिज़ फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ लैंग्वेज* : 26.

भर्तृहरि की दृष्टि में शब्द की महिमा अपार है। सारा संसार उससे उपजता है, और उसी में समाता है। ज़ाहिर है कि शब्द से उनका आशय जीभ, तालु आदि उच्चारणावयवों के सहारे बोले जाने वाले अक्षरों के उस समुच्चय मात्र से नहीं है, जिसके लिए उनके यहाँ नाद शब्द का प्रयोग हुआ है। भर्तृहरि के दर्शन में नाद या उच्चरित अक्षरसमुदाय, एक पूरा वाक्य या वाक्य का अर्थ, एक पूरा वाक्यसमूह और उसका अर्थ, कई वाक्य समूहों से बनने वाला एक समूचा प्रकरण, कई प्रकरणों से मिल कर बना महावाक्य या प्रबंध तथा उसके निहितार्थ ही नहीं मनुष्य के जीवन में व्याप्त भाषा का हर एक रूप शब्द कहा गया है, और वह चेतना भी शब्द है, जिससे ये सब नाद, वाक्य, प्रकरण, प्रबंध आदि उपजते हैं।

भर्तृहरि ने अर्थ को शब्द का विवर्त कहा है, और यही विवर्त उनके अनुसार सारी सृष्टि है। आगे चल कर भर्तृहरि ने कहा कि यह संसार शब्द का परिणाम है ऐसा आम्नाय (आगम) के जानकार समझते हैं, (जो उचित ही है) क्योंकि छंदस् (शब्द) से ही यह विश्व विवर्तित हुआ है।[9]

यहाँ विवर्त और परिणाम ये दो शब्द सृष्टि प्रक्रिया के संदर्भ में आये हैं, जो भारतीय दर्शन की तत्त्वमीमांसीय शब्दावली में बहुधा प्रयुक्त होते आये हैं। भर्तृहरि ने दोनों में अंतर नहीं किया है, उन्होंने जगत् को शब्द का विवर्त भी कहा है और परिणाम भी।

प्रमाणों से पहले शब्दतत्त्व है। वाक् या शब्दतत्त्व के बिना न तो किसी तरह की कोई प्रमाणमीमांसा सम्भव है, न संसार के पदार्थों का कोई बोध सम्भव है। अतः शब्दतत्त्व ही एक मात्र वास्तविकता है— यह मानना पड़ता है। इस पर प्रश्न आता है कि बच्चा या गूँगा जो बोल नहीं पाता, संसार के पदार्थों का बोध तो उसको भी होता है, तब यह कहना सही नहीं है कि संसार का बोध शब्दतत्त्व के बिना असम्भव है। भर्तृहरि की ओर से इसका उत्तर यह बनता है कि शब्दतत्त्व से उनका आशय भाषा के उच्चरित या बोले जाने वाले रूप से नहीं है, वाग्रूपता से है, जिसका अनुवाद तंद्रा पटनायक ने वर्बलाइज़ेसेबिलिटी किया है।

शांकर वेदांत की स्थापना के बाद लगभग आठवीं शताब्दी से विवर्त और परिणाम की अवधारणाएँ जो आरम्भ में समानार्थी थीं,एक दूसरे से बहुत अलग हो गयीं। शांकर वेदांत में माना गया कि किसी भी वस्तु में परिवर्तन या किसी कारण से कार्य की उत्पत्ति दो रूपों में सम्भव है— विवर्त या परिणाम। विवर्त में मूल वस्तु में तात्त्विक परिवर्तन नहीं होता, अध्यारोप (वस्तु में अवस्तु के आरोप) के कारण वह अन्य रूप में झलकती है। जैसे धूप में पड़ी चमकती सीपी (वस्तु) चाँदी के टुकड़े (अवस्तु) जैसी दिखती है। चाँदी सीपी का विवर्त है। इसी तरह शंकराचार्य के दर्शन में जगत् ब्रह्म का विवर्त है। अध्यारोप मिटते ही जिसे हम चाँदी समझ रहे थे, वह सीपी के रूप में नज़र आने लगता है। इसी तरह अध्यारोप हटते ही जिसे हम संसार समझ रहे हैं,वह ब्रह्म दिखने लगता है। इसके ठीक विपरीत परिणाम एक तात्त्विक परिवर्तन है, जिसमें वस्तु अपने मूल रूप में फिर हासिल नहीं की जा सकती। जैसे दही दूध का परिणाम है।

गोविंद चंद्र पाण्डे[10] आदि अनेक विद्वान् मानते हैं कि भर्तृहरि के दर्शन में विवर्त और परिणाम में इस तरह का कोई अंतर नहीं है, जैसा शांकर वेदांत में है। बौद्ध दार्शनिक शांतरक्षित ने भर्तृहरि का

[9] शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः।
छंदोभ्य एव प्रथममेतद् विश्वं व्यवर्तत ॥ वही, 1.120॥

[10] *भर्तृहरि – लैंग्वेज, थाट ऐंड रियलिटी* में गोविंद चंद्र पाण्डे का पुरोवाक् : 12

05radhavallabh:Layout 1 7/28/2017 5:00 PM Page 74

खण्डन करने के लिए उनके *वाक्यपदीयम्* की पहली कारिका की पूर्वपक्ष के रूप में व्याख्या की है, उसमें भी वे विवर्त का अर्थ परिणाम करते हैं।[11] इस प्रकार भर्तृहरि जगत् को एक साथ शब्द का विवर्त भी कहते हैं, और परिणाम भी। इससे कुछ अलग व्याख्या भर्तृहरि के आधुनिक टीकाकार रघुनाथ शर्मा की है। वे विवर्त और परिणाम दोनों को शांकर वेदांत के चश्मे से ही देखते हुए मानते हैं कि भर्तृहरि जगत् को शब्द का विवर्त ही मानते हैं, परिणाम नहीं,उनके अनुसार भर्तृहरि (ऊपर अनूदित कारिका में) कहना यह चाह रहे हैं कि यह संसार शब्द का परिणाम है ऐसा आम्नाय (आगम) के जानकार समझते हैं, हम तो ऐसा नहीं समझते। पर रघुनाथ शर्मा ने दुर्व्याख्या ही की है। भर्तृहरि आम्नाय या आगम को सर्वत्र प्रमाण माना है, तथा उन्होंने विवर्त और परिणाम की समाकारिता मानकर जगत् को शब्दब्रह्म का विवर्त भी कहा है, और परिणाम भी। हरिवृषभ ने विवर्त की व्याख्या में कहा है— एकस्य तत्त्वादप्रच्युतस्य भेदानुकारेणान्यरूपोपग्राहिता विवर्तः (एक वस्तु जब अपने तत्त्व में अप्रच्युत या अपरिवर्तित रहे और वह भेदों के अनुकरण के साथ अन्य रूपों में बँट कर अलग-अलग झलके तो यह विवर्त है।) हरिवृषभ के अनुसार विवर्त में अमूर्त मूर्त बनता है, एक अनेक रूपों में झलकता है, और यह सब अविद्या की शक्ति से सम्भाव्य होता है। यह विद्या का अविद्या में परिवर्तन है। यही बात भर्तृहरि ने ठीक इसके आगे की कारिका में कही है। वस्तु मूल रूप में तो एक ही रहती है, शक्ति के द्वारा वह अलग-अलग रूपों में प्रवर्तित होने लगती है।[12]

रघुनाथ शर्मा यहाँ अपनी व्याख्या में चार प्रकार का विवर्त बताते हैं। पहले तो मूर्तन या अमूर्त का मूर्तिभाव, क्रिया अर्थात् एक वस्तु में उत्पत्ति, वृद्धि या विनाश आदि क्रियाएँ होना— ये दो भेद होते हैं। इन दोनों के भी अविद्या की शक्ति से प्रवृत्ति और अवस्था इन दो आधारों पर दो-दो प्रकार और हो जाते हैं, अतः विवर्त के चार प्रकार हो जाते हैं।

विवर्त के ये भेद विवर्तन की प्रक्रिया की दृष्टि से हैं। विवर्त के स्वरूप की दृष्टि से इसके चेतनगत और अचेतनगत ये दो भेद किये जाते हैं। चेतन के रूप में होने वाला विवर्त भी दो तरह का हो जाता है— परमात्मरूप और ज्ञानरूप। जिसे परमात्मा या ईश्वर कहा जाता है, भर्तृहरि के दर्शन में वह भी शब्दब्रह्म का ही विवर्त है। ज्ञानरूप विवर्त जीवात्मा है।

भर्तृहरि का शब्द को ही परमसत्ता मानना अन्य चिंतन प्रस्थानों के लिए एक बड़ी चुनौती था। उनकी इस स्थापना से वाक् या भाषा की उत्पत्ति तथा शब्द और अर्थ के बीच संबंध को ले कर तत्त्वमीमांसीय या बुनियादी प्रश्न उठ खड़े हुए। उनके विरोध में एक ओर नैयायिक थे, जिनका मानना था कि इस शब्द का यह अर्थ होगा— यह ईश्वर द्वारा निर्धारित है। अमुक शब्द अमुक अर्थ को बताएगा— यह बात रूढ़ि या सामाजिक मान्यता से निर्धारित होती है— जिसे समय या संकेत कहा जाता है, यह मानने वालों की भी परम्परा थी।

यदि भाषा ईश्वर ने बनाई, तो इसे बनाने के लिए भी तो उसे किसी भाषा में यह सोचना पड़ा होगा कि मैं अब कोई भाषा बनाऊँ। यदि अमुक शब्द अमुक अर्थ बताएगा यह समाज तय करता है, जिससे रूढ़ि बनती जाती है, तो इस तय करने के पहले भी कोई भाषा होगी ही, जिसमे यह तय किया जा सके। इन तर्कों से शब्द के अनादि और अनंत होने का भर्तृहरि का सिद्धांत सुसंगत ठहरता है।

भर्तृहरि के समग्र विवेचन के दो स्तर हैं— तत्त्वमीमांसीय तथा भाषाशास्त्रीय। पहला शब्दब्रह्म पर केंद्रित है, दूसरा भाषा पर केंद्रित है। पहले स्तर पर भर्तृहरि परम तत्त्व के रूप में शब्दब्रह्म और उसके विवर्त की प्रक्रिया का विवेचन करते हैं। दूसरे स्तर पर इस विवर्त से बनने वाली विभिन्न कोटियों का।

[11] वही, वी.एन. झा का बीज भाषण : 21.

[12] एकमेव यदाम्नातं भिन्नं शक्तिव्यपाश्रयात्।
अपृथक्तवेन शक्तिभ्यः पृथक्त्वेनेव वर्तते॥ वाप.1.2.

05radhavallabh:Layout 1 7/28/2017 5:00 PM Page 75

व्याकरण परम्परा की धरा पर भर्तृहरि शब्दाद्वैतवाद का ऐसा भव्य भवन खड़ा करते हैं, जिसकी नींव मजबूत है। इसलिए वेदांती, मीमांसक, नैयायिक सभी को उनका नोटिस लेना पड़ता है। सोमानंद आदि शैवदार्शनिकों ने उनकी खिल्ली उड़ाते हुए उन्हें या उनके अनुयायियों को सीख दी कि आप लोग व्याकरण के अंतर्गत भाषा सिखाने का काम कीजिए, दर्शन से आपका क्या लेना-देना?[13] उत्पलदेव ने भी अपने गुरु की बात का दृढ़ता से समर्थन किया, जबकि शैवदर्शन की परम्परा भर्तृहरि के व्याकरणदर्शन पर कितनी अवलम्बित होती जा रही है, यह वे स्वयं भी समझ रहे थे। भर्तृहरि व्याकरणदर्शन के नये प्रस्थान के पुरोधा बन गये, और परम्परा उनके साथ थी, इसलिए उनके प्रतिपक्षियों को उन्हें गम्भीरता से लेना पड़ा। भर्तृहरि के पहले पतंजलि कह चुके थे— शब्दप्रमाण का वयम्, यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्— (*महाभाष्य* 2.1.1) हम लोग शब्द को प्रमाण मानने वाले हैं, शब्द जो कहता है, वह हमारा प्रमाण है। पतंजलि के इस कथन की व्याख्या करते हुए भर्तृहरि *महाभाष्यदीपिका* में कहते हैं— किमस्माकं वस्तुगतेन विचारेण अर्थस्त्वस्माकं यः शब्देनाभिधीयते?[14] अर्थात् संसार की वास्तविकता के विचार से हमें क्या लेना-देना? हमारा तो अर्थ वही है, जो शब्द के द्वारा कहा जाता है।

भाषा में संसार और संसार से मुक्ति

शब्दतत्त्व के विवर्त में रचा गया संसार मिथ्या नहीं है। उसकी सत्ता है। इस सत्ता में शब्द अपनी एक स्वायत्त दुनिया रचता है, और वह इस विश्व का नियामक बन जाता है। भर्तृहरि कहते हैं—

शब्देष्वेवाश्रिता शक्तिर्विश्वस्यास्य निबन्धनी।
यन्नेत्रः प्रतिभात्मायं भेदरूपः प्रतीयते॥ वाप. 1.118॥

शब्द से रची यह दुनिया हमारी रोज़मर्रा की दुनिया से अधिक स्थायी दुनिया है। भाषा विचारों का माध्यम मात्र नहीं है, वाक् या भाषा विचार-विश्व की जननी है। अतः भर्तृहरि चेतना पहले और वाक् उसकी निर्मिति के रूप में बाद में आयी— इस रूढ़ धारणा को तोड़ कर चेतना को ही वाक् की निर्मिति साबित करते हैं।

वाक्यपदीयम् के तीसरे काण्ड के अंतर्गत तृतीयसमुद्देश में भर्तृहरि शब्द और अर्थ के संबंधों पर विचार करते हैं, तथा शब्द या भाषा से निर्मित संसार और हमारे रोज़मर्रा के संसार के संबंधों पर भी विचार करते हैं। शब्दों के संसार की सत्ता वे औपचारिकी सत्ता कहते हैं, और हमारी आसपास की दुनिया को मुख्य सत्ता। पर औपचारिकी सत्ता हमारे आसपास की दुनिया से विशेष है। क्यों कि इस सत्ता का उल्लंघन कोई पदार्थ नहीं कर सकता।[15]

रोज़मर्रा की दुनिया में हम आँखों से दिखने वाली वस्तुओं को, जो हमारे वर्तमान में हैं, देख पाते हैं। शब्दों के विवर्त में हम भूत और भविष्य को भी देख पाते हैं। यह एक स्वायत्त संसार है। यह बाहर के संसार से सर्वथा अछूता रह सकता है। इस संसार में वह सहज सम्भव है, जो हमारे भौतिक संसार में सम्भाव्य नहीं है। इसका सबसे उम्दा उदाहरण अभाव या अनुपस्थिति के विमर्श को दिया जाता है। शब्दों

---

[13] शिवदृष्टि में सोमानंद कहते हैं :
वैयाकरणतां त्यक्तवा विज्ञानान्वेषणेन किम् ।
भवतामप्रस्तुतेन न केवलमिहोदितम् ॥

[14] तंद्रा पटनायक द्वारा उद्धृत :12.

[15] तस्माद्भिन्नेषु धर्मेषु विरोधिष्वविरोधिनीम्।
विरोधिख्यापनायैव शब्दैस्तैस्तैरुपाश्रिताम्॥
अभिन्नकालामर्थेषु भिन्नकालेष्ववस्थिताम्।
प्रवृत्तिहेतुं सर्वेषां शब्दानामौपचारिकीम्॥
एतां सत्तां पदार्थो हि न कश्चिदतिवर्तते॥
सा च सम्प्रतिसत्तायाः पृथग्भाष्ये निदर्शिता॥ (*वाप.* 3.3.49-51)

05radhavallabh:Layout 1 7/28/2017 5:00 PM Page 76

के संसार में हम अभाव के उल्लेख के द्वारा न होने को होता हुआ बता देते हैं। जब हम कहते हैं कि मेज पर पुस्तक रखी हुई है, तो पुस्तक की भावात्मक सत्ता का बोध होता है, जो संसार में भी हो सकता है। पर जब हम कहते हैं कि मेज़ पर पुस्तक का अभाव है, तो हमें अभाव का भी एक पदार्थ के रूप में बोध होता है, जब कि हमारे व्यवहार जगत् में अभाव या अनुपस्थिति एक भावात्मक सत्ता नहीं बन सकती। अभाव का भाषा में विमर्श कैसे होता है इसके लिए शशविषाण (खरगोश का सींग), मृगतृष्णा का जल आदि उदाहरण दिये जाते हैं। जो संसार में असम्भव है, भाषा उसे सम्भव कर देती है। भाषा निराकार को साकार और अमूर्त को मूर्त कर देती है। शास्त्रों में इसका एक उदाहरण यह दिया जाता रहा है—

एष वन्ध्यासुतो याति खपुष्पकृतशेखरः।
कूर्मक्षीरचये स्नातःशशशृङ्गधनुर्धरः॥

(आकाशकुसुम की माला सिर पर गूँथे हुए, कछवी के दूध के तालाब में नहाया हुआ, खरगोश के सींग का धनुष धारण किये हुए यह बाँझ का बेटा चला जा रहा है।)

कछुवा स्तनपायी जीव नहीं है, खरगोश के सींग नहीं होते, आकाश में फूल नहीं खिलते और वंध्या के पुत्र नहीं हो सकता। अतः इस पद्य में सारी असम्भावनाओं का बख़ान है पर फिर भी इनका बिम्ब तो बनता ही है। जितनी भी असम्भाव्य स्थितियाँ हैं, भाषा उन्हें अपने संसार में सम्भव बना सकती है।

पश्यंती, मध्यमा और वैखरी वाणी के इन तीनों रूपों का विवेचन भर्तृहरि ने किया है। परम्परा में वाणी के चार रूपों की चर्चा होती आयी है। भर्तृहरि ने इन तीनों वाणियों के परम पद या सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप का भी संकेत किया है—

वैखर्या मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम्।
अनेकतीर्थभेदायास्त्रय्या वाचः परं परम्॥ 1.159॥ 1.142

वेद इसी परा वाक् का अनुकार है। इसलिए वेद प्रमाण है और वह तत्त्वबोध के मार्ग पर ले जाता है। वाक् या वाणी व्यवहार का माध्यम ही नहीं है, वह मुक्ति का द्वार भी खोलती है। भर्तृहरि कहते हैं कि व्याकरण मोक्षमाण (मुमुक्षु या मोक्ष चाहने वाले) के लिए अजिह्म राजपद्धति अर्थात् सीधा सपाट रास्ता है। अर्थात् अन्य पद्धतियाँ भी हैं, पर वे जिह्म पद्धतियाँ है, वे टेढ़े-मेढ़े ऊबड़-खाबड़ रास्ते हो सकते हैं। भर्तृहरि के पारम्परिक टीकाकारों में किसी ने यहाँ यह बात नहीं उठाई कि भर्तृहरि किन टेढ़े-मेढ़े ऊबड़-खाबड़ रास्तों की ओर संकेत कर रहे हैं। मुक्तिमार्ग के लिए अजिह्म जैसे वज़नी शब्द का प्रयोग भी किसी और दार्शनिक ने भारतीय दर्शनों की परम्परा में न किया होगा।

व्याकरण साधु या संस्कृत शब्दों का प्रयोग शिष्टोपदेश से सिखाता है, उससे चेतना में संस्कार बनता है, उससे मनुष्य चेतना के वास्तविक स्वरूप या शब्दब्रह्म को पहचान लेता है। यही मुक्ति की प्रक्रिया है।

तस्माद् यः शब्दसंस्कारः सा सिद्धिः परमात्मनः।
तस्य प्रवृत्तितत्त्वज्ञस्तद् ब्रह्मामृतमश्नुते॥ *वाप.* 1.131॥

यहाँ प्रश्न आता है कि शिष्टोपदेश से जो साधु शब्द पहचाने जाएँगे, वे तो स्वयं अविद्या का हिस्सा हैं। उनसे परब्रह्म या परावाक् तक पहुँचने का मुक्तिमार्ग कैसे प्रशस्त हो सकता है। भर्तृहरि कहते हैं कि ये मुक्तिमार्ग में प्रवृत्त करने के उपाय हैं, मुमुक्षु या मोक्षकामी असत्य के पथ को पहचान कर सत्य को पहचान लेता है—

उपायाः शिक्षमाणानां बालानामुपलानना:।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते॥ *वाप.* 2.238॥

वाणी के उक्त तीन स्तरों से शब्द का विवर्त तीन अवस्थाओं से गुज़रता है, जिनको भर्तृहरि ने परमोपांशु, उपांशु और संहृतक्रम कहा है। परमोपांशु में शब्द मन की धरती के भीतर अँकुराने को होते

05radhavallabh:Layout 1 7/28/2017 5:00 PM Page 77

हैं। यह पश्यंती की स्थिति है। उपांशु में मध्यमा के स्तर पर शब्द में अर्थ का अंकुर फूटता है, पर वह प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता। संहृतक्रम में समूचा शब्द अपने अर्थ के साथ हमें सुनाई देता है। यह वैखरी वाणी का स्तर है। अमूर्त के मूर्तीकरण के लिए भर्तृहरि ने चित्र का दृष्टांत दिया है। चित्रकार के मन में चित्र की एक सम्पूर्ण परिकल्पना अव्यक्त रूप में रहती है, उसी तरह स्फोट अव्यक्त रूप में चेतना में रहता है।[16] उसकी अव्यक्तता को भर्तृहरि ने प्रतिबिम्ब के पानी में हिलने तथा मयूराण्डरसन्याय से समझाया है। प्रतिबिम्ब के पीछे मूल बिम्ब एक ही होता है, पर पानी में प्रतिबिम्ब के लिए कवि त्रिलोचन के शब्दों में 'जल के हिलने पर हिलती है तल की परछाईं' और एक से अनेक दिखने लगती है। मयूराण्डरसन्याय अव्यक्त की व्यक्त अवस्थाएँ बताने के लिए ज़्यादा सही दृष्टांत है। मोरनी के अण्डे के भीतर जो रस या द्रव है, उसमें मयूरपंख के सातों रंग अव्यक्त और क्रमहीन स्थिति में रहते हैं, पर एक द्रव ही अनेक के रूप में व्यक्त होता है, और अण्डे से चूज़े का बाहर आना, बड़ा होना उसके पंख निकलना और फिर उन पंखों में रंगों का भराव आना— यह सारा क्रम उसके अक्रम में रहता है।[17]

कुल मिला कर वाणी के जिस रूप से यह अलग-अलग रूपाकार विभाजित हो कर बनते हैं, वह अपने आंतरिक रूप में एक अखण्ड और ज्योतिर्मय है।[18] वह प्रकृति या हरिवृषभ के शब्दों में परा प्रकृति है,[19] विवर्त के द्वारा बनने वाले रूप उसकी विकृति हैं। वाणी का यह अखण्ड ज्योतिर्मय परमरूप ही शब्दब्रह्म है, भर्तृहरि ने इसी को प्रतिभा भी कहा है। उसके जो भी बाहरी रूप विवर्त की ऊपर बताई प्रक्रिया से बनते हैं, वे अंतत: उसी में समाते जाते हैं। हरिवृषभ कहते हैं कि नाम से रूप और रूप से फिर नाम में परिणति या एक अविभक्त की विभक्त रूपों में निर्मितियाँ और उनका फिर अविभक्त रूपों में लौटना— यही यहाँ सृष्टि-प्रक्रिया है।

भाषा अपना एक संसार रचती है। कारक, लिंग, समास, क्रिया आदि कोटियाँ इस संसार को रचने में क्या भूमिका निभाती हैं— यह विचार विशेष रूप से भर्तृहरि ने किया है। उदाहरण के लिए लिंग की अवधारणा को लें। संस्कृत में पुस्तक शब्द नपुंसक लिंग है, हिंदी में स्त्रीलिंग, जब कि ग्रंथ शब्द दोनों में पुल्लिंग है। हमारी रोज़मर्रा की दुनिया में जिस वस्तु (किताब) को बताने के लिए इन दोनों शब्दों का प्रयोग होता है, उसे स्त्री या पुरुष के प्रत्ययों से जोड़ कर नहीं देखा जा सकता, पर भाषा में यह सम्भव है। एक ही वस्तु को पुस्तक, ग्रंथ और किताब कहने पर अलग-अलग संसार

---

[16] यथैक एव सर्वार्थप्रकाशः प्रविभज्यते॥
दृश्यभेदानुकारेण वाक्यार्थावगमस्तथा॥ 2.7॥
चित्रस्यैकस्य रूपस्य यथा भेदनिदर्शनैः।
नीलादिभिः समाख्यानं क्रियते भिन्नलक्षणैः॥ 2.8॥
तथैवैकस्य वाक्यस्य निराकाङ्क्षस्य सर्वतः।
शब्दांतरैः समाख्यानं साकाङ्क्षैरनुगम्यते॥ *वाप.* 2.9॥

[17] नादस्य क्रमजातत्वान्न पूर्वो न परश्च सः।
अक्रमः क्रमरूपेण भेदवानिव जायते॥
प्रतिबिम्बं यथान्यत्र स्थितं तोयक्रियावशात् ।
तत्प्रवृत्तिंमिवान्वेति स धर्मः स्फोटनादयोः॥
आत्मरूपं यथा ज्ञाने ज्ञेयरूपं च दृश्यते॥
अर्थरूपं तथा शब्दे स्वरूपं च प्रकाशते॥
आण्डभावंमिवापन्नो यः क्रतुः शब्दसंज्ञकः।
वृत्तिस्तस्य क्रियारूपा भागशो भजते क्रमम्॥
यथैकबुद्धिविषया मूर्तिराक्रियते पटे॥
मूर्त्यन्तरस्य त्रितयं एवं शब्देऽपि दृश्यते॥ *वाप.* 1.49 –53॥

[18] प्राप्तरूपविभागाया यो वाचः परमो रसः।
यत्तत्पुण्यतमं ज्योतिस्तस्य मार्गोऽयमाञ्जसः॥ वही, 1.12॥

[19] *वाप.* 1.14 पर हरिवृषभ की वृत्ति : 37.

05radhavallabh:Layout 1 7/28/2017 5:00 PM Page 78

निर्मित होता है। इस संसार के बाहर वह वस्तु कैसी है, अथवा है या नहीं है— यह यहाँ प्रश्न नहीं रह जाता। हमारे लिए वह वस्तु तब तक है तथा वैसी ही है, जब तक और जैसी हम उसे ग्रंथ, पुस्तक या किताब के शब्दों से व्यवहार का विषय बनाते हैं। भाषा जो संसार रचती है हमारी रोज़ की दुनिया पर अवलम्बित नहीं है, वह स्वायत्त हो जाता है।

भर्तृहरि का पूरा दर्शन अखण्डता और अविभाज्यता पर जा कर टिकता है। इस दृष्टि से वे भाषा की शक्तियों के रूप में काल और दिक् की भी मीमांसा करते हैं। काल भी अखण्ड है, वर्तमान भूत और भविष्य के रूप में उसका विभाजन हम जो करते हैं वह कृत्रिम है। दिक् भी अखण्ड है, पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण आदि उसका विभाजन वास्तविकता नहीं है।

व्याकरण की कोटियों— स्फोट, दिक्, कारक, वाक्य, आदि के विषय में भर्तृहरि के विमर्श से भारतीय भाषाशास्त्र की आधारभूमि से निर्मित हुई है।

स्फोटवाद

ऊपर चेतना की उस स्थिति का उल्लेख किया गया है, जो शब्द से जन्म लेने वाले संसार का मूलाधार है। शब्द इस चेतना में सदा विद्यमान है। शब्द के इस रूप को स्फोट कहा गया है। इस स्थिति में इसमें शब्द और अर्थ एकाकार हो जाते हैं। यह पश्यंती वाक् की स्थिति में होता है।

हम शरीर के उच्चारण अंगों से जो शब्द बोलते हैं और कानों से जिसे सुनते हैं, उसमें पहले का वर्ण बाद वाले वर्ण के आते ही विलीन होता जाता है। तब यह तत्त्वमीमांसीय समस्या आती है कि उस विलीन हो चुके से अर्थ कैसे उपज सकता है? नैयायिकों ने इसका समाधान अपने ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष के सिद्धांत द्वारा निकाला। बोले जाते शब्द के वर्णों को सुनने वाला उन्हें उसी क्रम से स्मृति में धारण कर लेता है जिस क्रम से वे बोले गये हैं। यह स्मृति पूर्व में उच्चरित वर्णों का उसी क्रम से सन्निकर्ष या सान्निध्य करा देती है, जिस क्रम से वे बोले गये हैं। इस तरह अंतिम वर्ण को सुनते ही पूरा शब्द या वाक्य सुनने वाले की बुद्धि में उपस्थित हो जाता है।

न्यायदर्शन में बताई गयी अर्थबोध की प्रक्रिया भर्तृहरि की तत्त्वमीमांसीय दृष्टि के विपरीत है। वह उच्चरित शब्द को अर्थबोध के मानसिक धरातल से सीधे जोड़ देती है, जब कि भर्तृहरि इन दोनों में भेद मानते हैं। दोनों का कालबोध ही सर्वथा अलग है। जो शब्द हम बोलते हैं, उनमें वाक् का वैखरी रूप रहता है और वे एकरेखीय काल में व्यक्त होते हैं। जो शब्द बुद्धि में समझे जाते हैं, उनका स्थान पश्यंती वाक् है, व काल स्वकाल है।

न्यायदर्शन में बताये गये अर्थबोध के सिद्धांत पर कई आपत्तियाँ खड़ी होती हैं। यदि अंतिम वर्ण के उच्चारण के साथ पूरे शब्द या वाक्य को स्मृति के द्वारा पुनः रचित कर लिया जाता है, तो बोलने वाला अपने शब्द या वाक्य के हर वर्ण को एक एक घंटे या लम्बे अंतराल के बाद अलग-अलग इसी क्रम से बोले, तब भी सुनने वाले को अर्थबोध हो जाना चाहिए, जब कि ऐसा होता नहीं है। दूसरे यदि स्मृति-पूर्व पूर्व में लुप्त हुए वर्णों को उसी क्रम से समायोजित करती है, तब भी पूरे शब्द या पूरे वाक्य का अर्थ समन्वित हो कर कैसे निकलता है— इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिल पाता, क्योंकि लुप्त हुए वर्ण उसी क्रम से समायोजित हो भी गये, तो वे नादरूप ही होंगे, अर्थरूप नहीं।

इस समस्या से निपटने के लिए व्याकरण में स्फोट और नाद (उच्चरित शब्द) के बीच व्यंग्य-व्यंजक का संबंध माना गया। जो शब्द हम बोलते हैं वे चेतना में स्थित स्फोट को व्यंजित कर देते हैं। स्फोट अर्थरूप होता है।[20]

---

[20] ग्रहणग्राह्ययो: सिद्धा योग्यता नियता यथा।
व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेन तथैव स्फोटनादयो: ॥ *वाप.* 1. 97 ॥

05radhavallabh:Layout 1 7/28/2017 5:00 PM Page 79

स्फोटतत्त्व अपने आप में अविभाज्य और अखण्ड है, पर अपोद्धार (अलग-अलग करना) से उसकी निष्पत्तियों को टुकड़े-टुकड़े कर के देखा जा सकता है। इन टुकड़ों को एक कर के फिर हम वास्तविकता पर पहुँचते हैं।

भाषा के संसार में हम जिस तरह एक अनादि व अखण्ड तत्त्व को टुकड़ों में देख कर फिर उन्हें क्रम से जोड़ कर वास्तविकता पर पहुँचते हैं,उसी तरह भाषा के माध्यम से अपने रोज़मर्रा के संसार को हम पहले खण्ड खण्ड कर के देखते हुए फिर अखण्ड तत्त्व तक पहुँच सकते हैं। इसलिए भाषा व्यवहार का ही नहीं, मुक्ति का भी माध्यम है।

विट्गेंस्टाइन भी *ट्रैक्टैटस लोजिको फ़िलासफ़िकस* में कहते हैं कि भाषा के विश्लेषण से संसार का विश्लेषण सम्भव है।[21] रसेल भी यही बात कहते हैं। फिर भी अंततः भर्तृहरि से इन दोनों की निष्पत्तियाँ अलग हो जाती हैं। इनके लिए यह अलग-अलग करना और फिर क्रम से जोड़ कर एक अखण्ड पर पहुँचना किसी साधनापद्धति का हिस्सा नहीं है, जैसा भर्तृहरि के यहाँ है।

शब्द और विचार में क्या संबंध है? शब्द से विचार और विचार से शब्द तथा स्फोट से दोनों और दोनों से फिर स्फोट। यह अलातचक्र (गोलाकार घुमाई गयी मशाल) की तरह प्रक्रिया चलती है।

भर्तृहरि का प्रतिभा-विमर्श

भर्तहरि का प्रतिभा-विमर्श स्फोटतत्त्व से ही जुड़ा हुआ है। स्फोट मानस स्थिति है, जिसमें से अर्थ स्फुटित होता है। यह स्थिति भी प्रतिभा के कारण बनती है। प्रतिभा का स्वरूप बाहरी संसार की वस्तुओं की तरह किसी भी रूप में नहीं बताया जा सकता। वह अनाख्येय या अनिर्वचनीय है। पर वह हमारे इस संसार के प्रत्येक मनुष्य ही नहीं, जीव-जंतु तक के भीतर किसी न किसी रूप में विद्यमान है। वही हमारी चेतना में सारे अर्थों को समायोजित करती है, वही संसार के हर विषय के रूप में ढलती है। जितना जो कुछ बोध भाषा के संसार में होता है, वह सब उसी के दायरे के भीतर रह कर होता है। संसार के सारे जीव-जंतु उसी के द्वारा कब क्या करना है, यह वह बूझ पाते हैं। कोकिल वसंत में कूक भरने लगता है, मौसम आने पर बया अपना घोंसला बनाती है— यह सब प्रतिभा के कारण है।[22]

प्रतिभा के छह निमित्त या कारण भर्तृहरि ने बताये हैं— स्वभाव, चरण, अभ्यास, योग, अदृष्ट तथा विशिष्टोपहित।[23] चरण वेद का सम्प्रदाय है।

---

[21] शब्द – *ए स्टडी ऑफ़ भर्तृहरिज फ़िलासफ़ी ऑफ़ लैंग्वेज* : 26.

[22] इदं तदिति सान्येषामनाख्येया कथञ्च।
प्रत्यात्मवृत्तिसिद्धा सा कर्त्रापि न निरूप्यते॥
उपश्लेषमिवार्थानां सा करोत्यविचारिता।
सार्वरूप्यमिवापन्ना विषयत्वेन वर्तते ॥
साक्षाच्छब्देन जनितां भावनानुगमेन वा ।
इतिकर्तव्यतायां तां न कश्चिदतिवर्तते॥
प्रमाणत्वेन तां लोकः सर्वः समनुपश्यति।
समारम्भाः प्रतीयंते तिरश्चामपि तद्वशात् ॥
यथा द्रव्यविशेषाणां परिपाकैरयत्नजाः।
मदादिशक्तयो दृष्टाः प्रतिभास्तद्वतां तथा॥
स्वरवृत्तिं विकुरुते मधौ पुंस्कोकिलस्य कः।
जन्त्वादयः कुलायादिकरणे केन शिक्षिताः॥
आहारप्रीत्यपद्वेषप्लवनादिक्रियासु कः।
जात्यान्वयप्रसिद्धासु प्रयोक्ता मृगपक्षिणाम्॥
भावनानुगतादेतदागमादेव जायते ।
आसत्तिविप्रकर्षाभ्यामागमस्तु विशिष्यते॥ *वाप.* 2. 144-151॥

[23] स्वभावचरणाभ्यासयोगादृष्टोपपादिताम्।
विशिष्टोपहितां चेति प्रतिभां षड्विधां विदुः॥ *वाप.* 2.152 ॥

05radhavallabh:Layout 1 7/28/2017 5:00 PM Page 80

शैव दार्शनिकों के प्रतिभा-विवेचन पर भर्तृहरि का स्पष्ट प्रभाव है। *महार्थमंजरी* में प्रतिभा को स्वातंत्र्यरूपिणी कहा गया है।[24] प्रतिभा एक कौंध में अर्थ को बुद्धि में झलका देती है, जिसे इन दार्शनिकों ने प्रत्यवभास कहा है। प्रतिभा तथा प्रत्यवभास दोनों में 'प्रति' उपसर्ग काल की एकरेखीय गति के स्थान पर बहुरेखीय गति का संकेत देता है। भर्तृहरि के टीकाकारों ने यह प्रत्यवभास तीन प्रकार का बताया है— परिच्छिन्नप्रत्यवभास (सीमित रूप में अर्थ का झलकना), संश्लिष्टार्थप्रत्यवभास (सम्मिश्र रूप में झलकना) तथा प्रशांत सर्वार्थप्रत्यवभास (परिपूर्ण रूप में वस्तुओं का प्रकाशित होना)।[25]

वाक्य अखण्ड है, उसके अलग-अलग खण्डों— पदों, पदार्थों— की कल्पना अविद्या के कारण होती है। पद अकेला रहता है, तब तक वह असहाय ही है। वाक्य में पहुँच कर वह वाक्यार्थ के साथ गुँथ जाता है। यदि वाक्य में बोले गये अलग-अलग पद अपना अलग-अलग अर्थ खोलते भी हों, तो वाक्यार्थ बोध होने पर ही उनकी सार्थकता है। इसलिए हम जो बोलते हैं, उसकी आत्मा वाक्यार्थ है, पूरे वाक्य का अखण्ड अर्थ एक साथ आभासित हो जाता है, यह अर्थ हमारी चेतना का अंग बन जाता है, अतः भर्तृहरि इसे चेतना रूप या प्रतिभारूप बताते हैं। भर्तृहरि मानते हैं कि शब्दब्रह्म या परा वाक् से भिन्न कोई चेतना नहीं है, अतः उनके दर्शन में शब्दब्रह्म=परावाक्=चेतना=प्रतिभा=वाक्यार्थ यह समीकरण बनता है।[26]

शैव दर्शन भर्तृहरि के प्रतिभाविवेचन का ऋणी है, पर वहाँ प्रतिभा या परावाक् परम शिव की शक्ति के रूप में स्वीकार की गयी, न कि उससे सर्वथा अभिन्न।[27]

नित्यशब्दार्थसंबंधवाद

भर्तृहरि का दूसरा मुख्य सिद्धांत शब्द और अर्थ में नित्य संबंध का है। जो भी शब्द हम बोलते हैं, वे जाति में संकेत करते हैं, जाति नित्य या अनश्वर तत्त्व है, इसलिए शब्द और अर्थ का संबंध भी नित्य है। जाति यहाँ एक तत्त्वमीमांसीय अवधारणा है, जिसका आशय वर्णव्यवस्था वाली जाति से नहीं है। जाति को सामान्य भी कहा जाता है। अंग्रेज़ी में इसका अनुवाद युनिवर्सल शब्द से किया जाता रहा है। प्रत्येक पदार्थ में जाति अविभाज्य रूप से रहती है। बिना जाति के कोई भी वस्तु नहीं हुआ करती। वृक्ष में 'वृक्षत्व', घट में 'घटत्व' और मनुष्य में 'मनुष्यत्व' जाति है।

शब्द एक संसार रचते हैं यह तो *ऋग्वेद* से चली आ रही मान्यता है। पर वे किस तरह का संसार रचते हैं और कैसे रचते हैं— इन दो प्रश्नों पर व्याख्याएँ अलग-अलग हो जाती हैं। पतंजलि आदि वैयाकरणों का मानना था कि शब्द चार प्रकार के अर्थों में संकेत करते हैं— जाति या सामान्य संज्ञा (कॉमन नाउन), गुण, क्रिया और यदृच्छा (व्यक्तिवाचक संज्ञाएँ या नाम)। जाति किसी भी वस्तु या व्यक्ति का आंतरिक, अपरिवर्त्य अविनाशी धर्म है। गुण भी वस्तु का आंतरिक धर्म है, पर वह अपरिवर्त्य और अविनाशी नहीं है। जाति और गुण वस्तु के सिद्ध धर्म हैं, क्रिया और यदृच्छा उसके साध्य धर्म हैं।

---

[24] भासा नाम च प्रतिभा महती सर्वगर्भिणी।
स्वस्वभावशिवैकात्मदेशिकात्मकचिन्मयी॥
यस्यां हि भित्तिभूतायां मातृमेयात्मकं जगत्।
प्रतिबिम्बतया भाति नगरादिव दर्पणे॥
स्वातन्त्र्यरूपा सा काचिच्छक्तिः परमेष्ठिनः।
तन्मयो भगवान् देवो गुरुर्गुरुमयी च सा॥ *महार्थमंजरी* :105.

[25] संस्कृत काव्यशास्त्र में प्रतिभा विवेचन : 24.

[26] विच्छेदग्रहणेऽर्थानां प्रतिभाऽन्यैव जायते॥
वाक्यार्थ इति तामाहुः पदार्थैरुपपादिताम् ॥ *वाप.* 2.143॥

[27] गोपीनाथ कविराज, *आस्पेक्ट्स ऑफ़ इण्डियन थॉट* : 22.

05radhavallabh:Layout 1 7/28/2017 5:00 PM Page 81

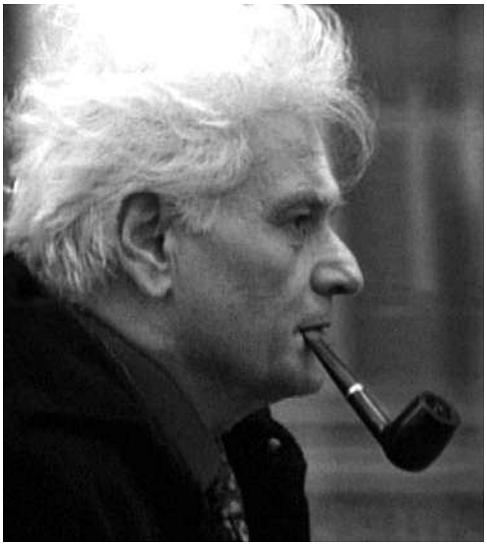

देरिदा मानते हैं कि पाठ के बाहर कुछ नहीं है। भर्तृहरि के यहाँ शब्दब्रह्मन् के अतिरिक्त अन्य सत्ता नहीं है। भर्तृहरि की तरह वे भाषा को अनादि मानते हैं। दोनों भाषा में शब्द और अर्थ के पार्थक्य की अंतर्निहित शक्ति को स्वीकार करते हैं, भर्तृहरि इसलिए परा वाक् की बात नहीं करते, वे भाषा के सूक्ष्मतम रूप पश्यंती तक ही अपने विवेचन को सीमित रखते हैं, पश्यंती अविभागा होते हुए भी ऊपर उल्लिखित मयूराण्डरसन्याय से सारे विभागों की उत्स है। देरिदा के अनुसार मनुष्य के भीतर भाषा के सृजन की आंतरिक शक्ति है, जिसे उन्होंने साइकिक इंप्रिंट या ट्रेस कहा है। भर्तृहरि इस स्थिति को मयूराण्डरसन्याय से समझाते हैं।

जब हम कहते हैं कि गोरे रंग वाली श्यामा नाम की बच्ची स्कूल जा रही है, तो इसमें बच्ची जाति शब्द है। गोरा रंग गुण शब्द है, जा रही है क्रिया वाचक शब्द है और श्यामा यह लड़की का नाम यादृच्छिक शब्द है।

शब्दार्थ संबंध नित्य होने से आगम ही इसमें प्रमाण है, तर्क इसमें अनपेक्षित है।

साधु (सही) शब्द के ज्ञान और प्रयोग से धर्म होता है। साधु शब्द का ज्ञान शिष्ट जनों से तथा आगम से होता है। गुरु-शिष्य परम्परा में दिया जाने वाला उपदेश आगम है। शिष्टजनोपदेश तथा आगम दोनों को व्याकरण व्यवस्थित करता है।[28] साधु शब्दों का अभ्यास एक साधना है, जो अध्यात्म की ओर उन्मुख करती है।

शब्द प्रकाशक है, वह अपने प्रकाश के द्वारा अंततः परमसत्ता के पथ को प्रकाशित कर देता है।

धर्मकीर्ति द्वारा भर्तृहरि की आलोचना

धर्मकीर्ति बौद्धदर्शन के प्रखर आचार्य हैं। उनके परमगुरु दिङ्नाग को भी भर्तृहरि से जूझना पड़ा था। धर्मकीर्ति स्वभावतः जुझारू दार्शनिक हैं। वे भाषिक व्यवहार के विवेचन में भर्तृहरि का प्रबल विरोध करते हैं। धर्मकीर्ति का कहना है कि तद्भव शब्द सीधे अर्थ का बोध करा देते हैं जब कि नैयायिक और पतंजलि की परम्परा के वैयाकरण मानते हैं कि अर्थबोध वास्तव में साधु या तत्सम शब्दों से ही होता है।[29] भर्तृहरि इस संबंध में दोनों विकल्पों को स्वीकार करते हैं, शिष्ट व्यक्ति के लिए असाधु या अपभ्रंश शब्द पहले साधु शब्द की स्मृति कराते हैं, फिर स्मृत हुए साधु या तत्सम शब्द से अर्थ का बोध होता है—यह भी सम्भव है[30] तथा यह भी कि तद्भव शब्द सीधे अर्थ का बोध करा दें। धर्मकीर्ति की आपत्ति है कि यदि असाधु शब्द में सीधे अर्थ का बोध कराने की शक्ति नहीं है, तो उसमें साधु

---

[28] *वाप.* 1.28,29.

[29] वही, I.145-55.

[30] अस्वगोण्यादयः शब्दाः साधवो विषयान्तरे।
निमित्तभेदात् सर्वत्र साधुत्वं च व्यवस्थितम्॥
एवं साधौ प्रयोक्तव्ये योऽपभ्रंशः प्रयुज्यते।
तेन साधुव्यवहितः कश्चिदर्थोऽभिधीयते॥ वही, 1. 148-152॥

05radhavallabh:Layout 1 7/28/2017 5:00 PM Page 82

शब्द की स्मृति करा देने की शक्ति भी कहाँ से आ जाएगी।[31] धर्मकीर्ति तो यहाँ व्याकरण को ही अनावश्यक घोषित कर देते हैं। व्याकरण का काम मात्र साधु शब्दों को बताना है, और अर्थ का बोध यदि असाधु शब्दों से ही हो जाता है, तो व्याकरण का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता।

बौद्ध दार्शनिकों की सबसे बड़ी आपत्ति शब्दार्थ के नित्य संबंध के सिद्धांत से है। उनके क्षणभंगवाद में नित्यता का दर्शन अँट ही नहीं सकता। धर्मकीर्ति के अनुसार शब्द का अर्थ से संबंध विवक्षा (बोलने वाले के अभिप्राय) से निर्धारित होता है।[32] शब्द वास्तविकता (स्वलक्षण) को नहीं बताते, क्यों कि स्वलक्षण तो अव्यपद्देश्य या शब्दों से परे है, शब्द विकल्पों को जन्म देते हैं, वासना और स्मृति के द्वारा ये विकल्प बनते हैं। विकल्प वास्तविकता तक पहुँचने में असमर्थ हैं।[33]

जाति या सामान्य के विषय में धर्मकीर्ति का कहना है कि यह कपोलकल्पना है। अर्थ का बोध अपोह के द्वारा होता है।

भारतीय चिंतन परम्परा पर भर्तृहरि का प्रभाव

भर्तृहरि का *वाक्यपदीय* सामने आने पर दर्शन के कुछ प्रस्थानों ने उसके आलोक में अपने को पुन:परिभाषित और पुनर्व्यवस्थित करने का प्रयास किया। प्रमुख उपनिषदों में कहीं शब्दब्रह्म का अता-पता नहीं है। पर परवर्ती एक उपनिषद् में परब्रह्म के साथ शब्दब्रह्म को भी सम्मिलित कर के ब्रह्म के दो रूप मान लिए गये—

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परब्रह्माधिगच्छति॥ *मैत्रीयुपनिषद्*, 6.22

(दो ब्रह्मों को जानना चाहिए एक शब्दब्रह्म, दूसरा परब्रह्म। शब्दब्रह्म में जो निष्णात हो जाता है, वह परब्रह्म को पा लेता है।)

पर भर्तृहरि ऐसा पार्थक्य नहीं करते। उनके विचार विश्व में शब्दब्रह्म ही एकमात्र ब्रह्म है। वेद या आगम भी इसी शब्दब्रह्म के अनुकार हैं। शब्दब्रह्म एक और अखण्ड है, वेद भी एक और अखण्ड है, पर शब्दब्रह्म की प्राप्ति के अलग-अलग उपाय बताने के कारण वेद अपने को अनेक भेदों में बाँट लेता है।[34]

भर्तृहरि का सर्वातिशायी प्रभाव तो अलंकारशास्त्र पर पड़ा। पाँचवीं शताब्दी के बाद के किसी भी अलंकारशास्त्री के लिए भर्तृहरि की उपेक्षा करना सम्भव नहीं रह गया। भामह और दण्डी संस्कृत काव्यशास्त्र के आद्य आचार्य हैं। भामह ने भर्तृहरि का नाम लिए बिना उनके स्फोटवाद का बड़ी कड़ाई से खण्डन किया। दण्डी ने भी भर्तृहरि का नाम नहीं लिया, पर *काव्यादर्श* लिखते समय भर्तृहरि का ग्रंथ उनके मानस में था, उनकी गूँज वहाँ सुनी जा सकती है—

इह शिष्टानुशिष्टानां शिष्टानां अपि सर्वथा।
वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते॥
इदमन्धं तमः कृत्स्नं जाएत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारान्न दीप्यते॥ (*काव्यादर्श*, 1.3-4)

(यहाँ अर्थात् हमारे संसार में शिष्ट जनों के द्वारा अनुशिष्ट या उपदिष्ट तथा अपने आप में शिष्टवाणियों के प्रसाद से लोकयात्रा या जीवन व्यवहार चलता है। ये तीनों भुवन घना अँधेरा भर रह

---

[31] विवरण के लिए इस लेखक की पुस्तक *धर्मकीर्ति* देखें.
[32] धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्तिक I.327.
[33] वही, I.61.
[34] प्राप्त्युपायोऽनुकारश्च तस्य वेदो महर्षिभिः।
एकोऽप्यनेकवर्त्मेव समाम्नातः पृथक्पृथक्॥ 1.5॥

05radhavallabh:Layout 1 7/28/2017 5:00 PM Page 83

जाते, यदि शब्द नामक ज्योति इस सारे संसार को आलोकित न करती रहती।)

वस्तुत: दण्डी ने भर्तृहरि के दर्शन का निचोड़ यहाँ समो दिया है। भर्तृहरि का कहना यही तो था कि शब्द के द्वारा ही यह सारा संसार रचा जा रहा है और चलाया जा रहा है। यद्यपि शिष्ट की अवधारणा पतंजलि अपने *महाभाष्य* में प्रतिपादित कर चुके थे, पर कदाचित् दण्डी पतंजलि की अपेक्षा भर्तृहरि का जो शिष्ट है, उसका संदर्भ यहाँ दे रहे हैं। माधव देशपाण्डे का मानना है कि पतंजलि में शिष्ट शब्द उन लोगों का सूचक है, जिनकी एक आदर्श जीवनचर्या है, पर भर्तृहरि में आकर वही शिष्ट शब्द ऋषि और आचार्य का वाचक हो गया है।[35]

भर्तृहरि कहते हैं—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके य: शब्दानुगमादृते॥
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥
वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती ।
न प्रकाश: प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी॥ *वाप.* 1.123–124॥

(संसार में ऐसा कोई बोध नहीं जो शब्द का अनुगम किये बिना सम्भव हो पाता हो। जितना भी ज्ञान यहाँ प्राप्त होता है, वह शब्द से अनुबिद्ध या शब्द में पिरोया हो कर भी भासित होता है। यदि शाश्वत वाग्रूपता या प्रत्येक बोध के शब्दमय होने की सनातन स्थिति निकल कर चली जाए, तो प्रकाश भी प्रकाशित नहीं हो पाएगा क्यों कि प्रकाश का प्रत्यवमर्श यह वाग्रूपता ही कराती है।)

भर्तृहरि के प्रतिभा विषयक विमर्श को संस्कृत काव्यशास्त्र में पूरी तरह स्वीकार किया गया, और काव्यसर्जना की प्रक्रिया का निरूपण उसके द्वारा सम्भव हुआ। *वाक्यपदीयम्* की अपनी टीका में हेलाराज ने प्रतिभा की परिणतियों को सौंदर्यानुभूति से जोड़ दिया है। वे कहते हैं कि प्रतिभा का साक्षात्कार करने पर मनुष्य के भीतर अपूर्व आनंद और प्रकाश का उदय होता है, जो परम तृप्ति प्रदान करता है। यह तृप्ति सांसारिक विषयों से भिन्न तथा शाश्वत है। प्रतिभा का प्रकाश निरंतर नया हो कर भीतर आभासित होता है।[36]

भर्तृहरि ने भाषा की उन अनेक कोटियों का विवेचन किया, जो कविता में भी अपनाई जाती हैं। तीसरे काण्ड के चौदहवें समुद्देश में उन्होंने उपमान और उपमेय के संबंध और प्रक्रिया पर विस्तार से चर्चा की है। व्याकरणशास्त्र के साथ अवांतर रूप से भर्तृहरि कविता का शास्त्र भी यहाँ रच रहे हैं।

आनंदवर्धन ने जब ध्वनिवाद की स्थापना की, तो भर्तृहरि एक तत्त्ववेत्ता के रूप में स्वीकृत हो चुके थे। आनंदवर्धन ने कविता का दर्शन भर्तृहरि के स्फोट–दर्शन के सहारे निर्मित किया। जिस तरह व्याकरणदर्शन में नाद या अनित्यशब्द नित्यशब्द का व्यंजक माना गया है, उसी तरह आनंदवर्धन के सिद्धांत में कविता के शब्द और अर्थ व्यंजक बन जाते हैं और वे सहृदय की चेतना में व्यंग्य अर्थ को प्रकाशित कर देते हैं।

आनंदवर्धन साहित्यशास्त्र के आकाश में नये नक्षत्र की तरह उगे ही थे, उन्हें अपने आप को स्थापित और साबित करने के लिए जैसा सहारा चाहिए था, वह उन्हें भर्तृहरि में मिला। अपने *ध्वन्यालोक* में ध्वनि को परिभाषित करते हुए भर्तृहरि का संदर्भ देते हुए वे कहते हैं— 'श्रेष्ठ विचारकों ने ध्वनि को काव्य की आत्मा कहा है, तो यह बात विद्वत्परम्परा से मान्य हुई है, यों ही नहीं चल पड़ी और हम इसकी चर्चा करने लग गये। सबसे बड़े विद्वान् वैयाकरण हुआ करते हैं, क्यों कि व्याकरण सारी विद्याओं का मूल है। वे वैयाकरण सुने जाते वर्णों को ध्वनि कहते हैं। उसी तरह उनके मत का अनुसरण करने वाले काव्य के तत्त्व की समझ रखने वाले अन्य विचारकों ने

---

[35] *भर्तृहरि – लैंग्वेज, थाट ऐंड रियलिटी* में माधव देशपाण्डे का लेख : 163–175.

[36] *भारतीय काव्यचिंतन में प्रतिभा विवेचन* : 25.

भी वाच्य (अर्थ) तथा वाचक (शब्द) से सम्मिश्रित शब्दात्मक काव्य को व्यंजकत्व के साम्य के आधार पर ध्वनि कहा।'[37]

आनंदवर्धन का आशय यह है कि भर्तृहरि के स्फोट सिद्धांत में जिस प्रकार उच्चरित शब्द जिसे ध्वनि या नाद कहा जाता है, श्रोता की बुद्धि में स्थित नित्य शब्द या स्फोट को व्यक्त कर देता है, ठीक उसी प्रक्रिया से कविता के शब्द और अर्थ मिल कर सहृदय या रसिक व्यक्ति की चेतना में छिपे कविता के आशय को व्यंजित करा देते हैं।

आनंदवर्धन ने बहुत चतुराई से कविता के अपने शास्त्र को भर्तृहरि के शास्त्र के द्वारा सत्यापित कर दिया। पर भर्तृहरि के स्फोटदर्शन तथा काव्यध्वनि के बीच मूलभूत सूक्ष्म अंतर है, जिसे वे कदाचित् जानबूझ कर यहाँ छिपा गये हैं, उसके बताने से तो वह आधार ही चरमरा जाता जो उन्हें भर्तृहरि से मिला। यह सत्य है कि ध्वनि और स्फोट के बीच भी व्यंजक और व्यंग्य का संबंध है, कविता के शब्द और अर्थ तथा उसके अंतर्निहित आशयों के बीच भी व्यंजक और व्यंग्य का संबंध है। पर नित्य शब्द या स्फोट जिस प्रकार श्रोता की बुद्धि में संस्कार के रूप में सदैव उपस्थित रहता है तथा उच्चरित शब्द या नाद से वह व्यक्त हो जाता है, उस तरह कविता के सारे निहितार्थ सहृदय की चेतना में पहले से उपस्थित नहीं रहते। यदि यह मान लेंगे कि कविता के सारे अंतर्निहित आशय रसिक के भीतर मौजूद हैं, सुने गये या पढ़े गये शब्दार्थ उन्हें प्रकट भर कर देते हैं, तो कविता की अपूर्वता ही समाप्त हो जाएगी और ध्वनिसिद्धांत का मूलाधार ही चरमरा जाएगा।

आनंदवर्धन तो स्वयं बार बार ध्वनित या व्यंजित होने वाले अर्थ की अपूर्वता की बात करते हैं। पर जब भामह, दण्डी, वामन और उद्भट जैसे उद्भट आचार्यों की परम्परा के अनुयायी आलंकारिक ध्वनिसिद्धांत की डगमगाती नैया पर थपेड़े बरसा रहे हों, तो भर्तृहरि ही इस नौका के एक कर्णधार बना लिए जाते हैं। आनंदवर्धन के अप्रतिम व्याख्याकार आचार्य अभिनवगुप्त तो आनंदवर्धन के द्वारा भर्तृहरि के इस पुनराविष्कार से ऐसे गद्गद हैं कि वे यहाँ अपनी लोचनटीका में भर्तृहरि को बार बार भगवान् कहते हुए *वाक्यपदीयम्* के उद्धरणों की झड़ी लगा देते हैं।[38] *वाक्यपदीयम्* से चार अलग-अलग कारिकाएँ अभिवनगुप्त ने यहाँ उद्धृत की हैं, वे आनंदवर्धन की रणनीति को सर्वांगसुंदर और सटीक ढंग से सत्यापित तो करती ही हैं, वे उनके (अभिनवगुप्त के) परम गुरुओं— सोमानंद तथा उत्पलदेव द्वारा भर्तृहरि की जो छीछालेदर की गयी, उसका मार्जन भी कर देती हैं। यही नहीं, अभिनवगुप्त अपनी मेधा से भर्तृहरि की कारिका में गुप्त अर्थ को भी अपने प्रयोजन के लिए उजागर करते हुए कहते हैं कि बोले जाने वाले शब्द तो ध्वनि होते ही है, उनकी गूँज भी ध्वनि कही जाती है, जैसे घंटी की टनटनाहट के बाद उसकी एक गूँज बनी रह जाती है। भर्तृहरि ने तो बोले गये शब्द को ही नाद या ध्वनि कहा था, अभिनवगुप्त वाक्यपदीय में उनके एक कथन को थोड़ा और खींच कर शब्द और उसका अर्थ दोनों मिल कर ध्वनि कहे जा सकते हैं— यह आशय निकाल लेते हैं। अभिनवगुप्त ने कविता और कला की तत्त्वमीमांसा शैवदर्शन के आधार पर विरचित की, तो प्रमाणमीमांसा भर्तृहरि के व्याकरणदर्शन के आधार पर।

आनंदवर्धन और अभिनवगुप्त के बाद उनके पदचिह्नों पर चलते हुए आचार्य मम्मट ने भर्तृहरि के आधार पर व्यंजना की प्रक्रियाएँ और स्पष्ट कीं। भर्तृहरि ने शाब्दबोध की प्रक्रिया पर विचार करते

---

[37] सूरिभिः कथित इति, न तु यथाकथञ्चित् प्रवृत्तेति प्रतिपाद्यते॥
प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः, व्याकरणमूलत्वात्सर्वविद्यानाम्।
ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति।
तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभिः सूरिभिः काव्यतत्त्वार्थदर्शिभिर्वाच्यवाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्तः। *ध्वन्यालोक,* 1.13 की वृत्ति

[38] देखें, *लोचनटी का.*

05radhavallabh:Layout 1 7/28/2017 5:00 PM Page 85

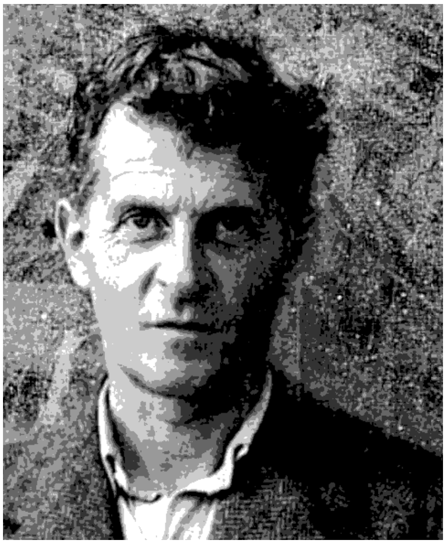

भर्तृहरि के लिए व्याकरण मुक्ति का सीधा सच्चा उपाय है। विट्गेंस्टाइन यह तो स्वीकार करते हैं कि व्याकरण दिमाग़ के उलझाव को मिटा देता है और इसे निर्मल बना देता है, पर किसी अध्यात्मविद्या के रूप में देखा जाना पसंद नहीं कर सकते। देरिदा ज़रूर भाषा के माध्यम से अध्यात्म की ओर उन्मुख लगते हैं। हमारे दृश्यमान जगत् का भाषा में निर्मित जगत् से क्या संबंध है? भर्तृहरि और विट्गेंस्टाइन दोनों यह मानते लगते हैं कि भाषा के अलावा इस दृश्यमान जगत् को समझने समझाने का और कोई ज़रिया है ही नहीं। इसलिए जो संसार हम देख रहे हैं, वह भी भाषा में और भाषा से है।

हुए अर्थनिर्धारण के चौदह कारण बताए हैं, मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश में उन्हें शाब्दी व्यंजना का स्वरूप समझाते हुए यथावत् स्वीकार कर लिया है तथा *वाक्यपदीयम्* से संबंधित अंश पूरा उद्धृत भी कर दिया है।[39] ये कारण हैं— संयोग, वियोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ (प्रयोजन), प्रकरण या प्रसंग, लिंग (चिह्न), अन्य शब्द का सान्निध्य, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति (जेंडर) तथा स्वर।

हरि शब्द के संस्कृत में अनेक अर्थ हैं विष्णु, इंद्र, सिंह आदि। पर हरि शब्द से जब विष्णु को बताना हो तो शंखचक्रधारी हरि कह सकते हैं। यहाँ शंख और चक्र के संयोग के कारण हरि शब्द अपने बाक़ी अर्थों को छोड़ कर विष्णु का अर्थ बता देता है। ये हरि हैं, पर अभी इन्होंने शंख और चक्र हाथ में नहीं लिया हुआ है— यह कहने पर भी हरि शब्द विष्णु का वाचक हो जाएगा, पर वियोग के आधार पर होगा। इसी तरह राम शब्द दशरथपुत्र राम, परशुराम, बलराम आदि के लिए आता है। पर जब हम कहते हैं कि राम और लक्ष्मण दोनों वन जा रहे हैं, तो साहचर्य के आधार पर राम शब्द यहाँ अन्य अर्थों को छोड़ कर दशरथपुत्र राम का अर्थ देता है। पर जब यह कहा जाए कि राम और अर्जुन की तरह इन दोनों में वैर है, तो राम शब्द यहाँ विरोध के आधार पर परशुराम का और अर्जुन शब्द सहस्रार्जुन का वाचक हो जाता है, क्यों कि परशुराम और सहस्रार्जुन का वैर इतिहास में प्रसिद्ध है, दशरथपुत्र राम का पांडवपुत्र अर्जुन से तो वैर होने से रहा। स्थाणु शब्द के संस्कृत में दो अर्थ हैं— शिव और ठूँठ। जब हम कहते हैं कि मुक्ति के लिए स्थाणु को भजो— तो यहाँ प्रयोजन के आधार पर स्थाणु शब्द शिव का ही अर्थ देगा, ठूँठ का नहीं। सामने बैठे राजा से जब कहा जाता है कि देव तो सर्वज्ञ हैं, तो प्रसंग के आधार पर देव शब्द 'आप' इस सर्वनाम का वाचक हो जाएगा, देवता का नहीं। इसी प्रकार चिह्न के आधार पर शब्द का अर्थ सीमित हो सकता है। त्रिशूलधर हर आ रहे हैं–

---

[39] अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते॥
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद्व्यापृतिरञ्जम्॥ *काव्यप्रकाश,* 2.19 ॥
संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य संनिधिः॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥ *वाप.* 2.316

05radhavallabh:Layout 1 7/28/2017 5:00 PM Page 86

इस वाक्य में 'हर' शब्द के शेष अर्थ त्रिशूल के चिह्न के कारण अलग हो जाएँगे और हर शब्द शिव का ही अर्थ देगा। अन्य शब्द से सहचरित हो कर कोई शब्द एक अर्थ में सीमित हो जाता है। ये त्रिपुरमर्दन भगवान् हैं— यह कहने पर त्रिपुर का मर्दन शंकर ने किया था, इसलिए त्रिपुरमर्दन शब्द के साहचर्य से भगवान् यहाँ केवल शंकर के अर्थ को ही बताएगा। मधु पी कर यह मतवाला हो गया है— इस वाक्य में मधु का अर्थ मदिरा होगा, शहद नहीं क्यों कि मतवाला बनाने की सामर्थ्य मदिरा में तो होती है शहद में नहीं। यहाँ सामर्थ्य के आधार पर शब्द के दो अर्थों में से हम एक ही अर्थ चुनते हैं। इसी प्रकार औचित्य, देश, काल तथा काकु या बोलने के लहज़े, उतार चढ़ाव से भी शब्दों के अर्थ सीमित हो जाते हैं।

भर्तृहरि को उद्धृत करते हुए आचार्य मम्मट अपने *काव्यप्रकाश* में कहते हैं कि शब्द अपनी उपाधि में संकेत करते हैं, वास्तविक पदार्थ में नहीं। यह उपाधि दो प्रकार की है : वस्तु का धर्म और वक्ता द्वारा अपनी इच्छा से उस पर सन्निवेशित बाहरी धर्म। वस्तुधर्म भी दो प्रकार का है— सिद्ध और साध्य। सिद्ध पहले से वस्तु में मौजूद है, साध्य उसमें बाद में उत्पन्न होता है। सिद्ध धर्म के भी दो प्रकार हो जाते हैं प्राणप्रद धर्म और विशेषाधानहेतु धर्म। किसी भी वस्तु का प्राणप्रद धर्म जाति है। जैसा कि *वाक्यपदीयम्* में कहा गया है— गौ अपने स्वरूप में गौ या अगौ नहीं है, गोत्व जाति के संबंध होने से वह गौ है। विशेषाधान हेतु धर्म उस वस्तु में बाद में उत्पन्न होने वाले गुण, जैसे लम्बाई, चौड़ाई, वस्तु का रूप-रंग नीला, पीला होना आदि हैं। इन गुणों से वस्तु का सत्ता का विशेष रूप में बोध होता है। साध्य क्रिया को कहते हैं, जो पहले होती रही है और आगे भी हो सकती है।[40]

कविता के क्षेत्र में भर्तृहरि का प्रभाव भवभूति जैसे महान् कवि पर देखा जा सकता है। भवभूति जितने बड़े कवि थे, उतने ही बड़े दार्शनिक भी। *उत्तररामचरित* में उन्होंने वाल्मीकि द्वारा प्रथम कविता की रचना के प्रसंग को उठाया है। आत्रेयी वाल्मीकि के आश्रम की छात्रा रही है। वह वनदेवी वासंती को बताती है कि किस तरह निषाद के द्वारा एक पक्षी को मार देने की घटना से क्षुब्ध वाल्मीकि के मुख से पहला छंद स्वत: निकल गया। वासंती कहती है— 'आम्नायादत्र नूतनश्छंदसामवतार:'— यह तो आम्नाय (वेद, आगम) के अलावा छंदस् या कविता का नया अवतरण हो गया। यहाँ आम्नाय और छंदस् दोनों ही शब्द *वाक्यपदीयम्* से आये हुए लगते हैं। आत्रेयी आगे की घटना बताती है— जब पहला छंद रच दिया गया, 'तो उसी समय भगवान् भूतभावन पद्मयोनि ब्रह्मा वाल्मीकि के पास आये और बोले— हे ऋषिवर, तुम वाक्‌रूपी ब्रह्म में प्रबुद्ध हो गये। तो अब तुम राम का चरित कहो। तुम्हारी ऋषिदृष्टि सदा चमकीली और प्रतिभामयी बनी रहे। तुम आद्य कवि हो।' यह कह कर ब्रह्मा तो अंतर्धान हो गये, और इधर वाल्मीकि ने शब्दब्रह्म के विवर्त के रूप में रामायण नामक इतिहास का प्रणयन कर दिया।'[41] यद्यपि भवभूति के एक टीकाकार वीरराघव ने यहाँ भवभूति के द्वारा शब्दब्रह्म के उल्लेख को वैयाकरण कैयट से प्रभावित होने की सम्भावना बताई है, पर शब्दब्रह्म का विवर्त होना व प्रतिभा तथा आर्षचक्षु आदि शब्दों का प्रयोग भवभूति के द्वारा यहाँ किया जाना उनका सीधे भर्तृहरि से संवाद ही लगता है। वैसे भी कैयट स्वयं भर्तृहरि के अत्यधिक ऋणी हैं, अपनी टीका के प्रारम्भ में ही उन्होंने घोषणा की है—

---

[40] तदुपाधावेव संकेत:। उपाधिश्च द्विविध:--वस्तुधर्मो वक्तृयदृच्छासंनिवेशितश्च। वस्तुधर्मोऽपि द्विविध:--सिद्ध: साध्यश्च। सिद्धोऽपि द्विविध:--पदार्थस्य प्राणप्रदो विशेषाधानहेतुश्च। तत्राद्यो जाति: उक्तं हि वाक्यपदीये 'हि न गौ: स्वरूपेण गौर्नाप्यगौ:, गोत्वाभिसंबन्धात्तु गौ:' इति। द्वितीयो गुण:। शुक्लादिना हि लब्धसत्ताकं वस्तु विशिष्यत॥ साध्य: पूर्वापरीभूतावयव: क्रियारूप:। डित्थादिशब्दानामन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्यं संहतक्रमं स्वरूपं वक्त्रा यदृच्छया डित्थादिष्वर्थेषूपाधित्वेन संनिवेश्यत इति सोऽयं संज्ञारूपो यदृच्छात्मक इति।

[41] आत्रेयी – तेन हि पुन: समयेन तं भगवंतमाविर्भूतशब्दप्रकाशमृषिमुपङ्गम्य भगवान् भूतभावन: पद्मयोनिरवोचत् – ऋषे प्रबुद्धोऽसि वागात्मनि ब्रह्मणि। तद् ब्रूहि रामचरितम्। अव्याहतज्योतिरार्षं ते चक्षु: प्रतिभातु। आद्य: कविरसि। इत्युक्त्वाऽन्तर्हित:। अथ स भगवान् प्राचेतस: प्रथमं मनुष्येषु शब्दब्रह्मणस्तादृशं विवर्तमितिहासं रामायणं प्रणिनाय।

05radhavallabh:Layout 1 7/28/2017 5:00 PM Page 87

तथापि हरिबद्धेन सारेण ग्रन्थसेतुना।
क्रममाणः शनैः पारं तस्या प्राप्तोऽस्मि पङ्गुवत्॥[42]

भर्तृहरि, देरिदा और विट्गेंस्टाइन

बीसवीं शताब्दी भर्तृहरि की शताब्दी रही है। इस शताब्दी में जब सुब्रह्मण्यम् अय्यर *वाक्यपदीयम्* का अंग्रेज़ी में अनुवाद और उस पर अपना अध्ययन भी प्रस्तुत कर रहे थे, तब रसेल और म्यूर आदि दार्शनिकों के बरअक्स विट्गेंस्टाइन एक बड़े दार्शनिक के रूप में उभर रहे थे। उसके कुछ समय बाद ही पश्चिम में उत्तर-आधुनिकता का हव्वा उठ खड़ा हुआ, और उसके एक तेजस्वी विचारक के रूप में देरिदा के दर्शन होने लगे। इस साथ ही भर्तृहरि के भाषादर्शन की तुलना साम्यवैषम्यप्रतिपादनसहित विट्गेंस्टाइन और देरिदा के साथ होने लगी। तंद्रा पटनायक आदि कुछ अध्येताओं ने पश्चिम के अन्य अनेक दार्शनिकों के संदर्भ में भर्तृहरि के विचारों को तोलने का प्रयास किया। इन अध्येताओं में हेराल्ड कोवर्ड, जो स्वयं मँजे हुए दर्शनशास्त्री हैं, का काम महत्त्व का है।

कोवर्ड के अनुसार भर्तृहरि और देरिदा कहीं कहीं समान धरातल पर इसलिए आ जाते हैं कि देरिदा के चिंतन का उत्स मसीही परम्परा में नहीं, यहूदी परम्परा में है।

भर्तृहरि के दर्शन में वाक् व्यवहार का माध्यम ही नहीं, तत्त्वबोध का साधन है। वेद प्रमाण इसलिए है कि वह इसी परा वाक् का अनुकार है। भर्तृहरि श्रुति या आगम के प्रामाण्य को सर्वोपरि मानते हैं। वे प्रत्यक्ष और अनुमान को भी उतना महत्त्व नहीं देते। पश्चिम के चिंतन से श्रुति की अवधारणा इस दृष्टि से भिन्न हो जाती है कि श्रुति का समानार्थी शब्द वहाँ स्क्रिप्चर है, जिसके मूल में कहा या सुना हुआ नहीं बल्कि लिखित शब्द है। बाइबिल का मूल भी बिब्लिआ या लिखित सामग्री के संचय की अवधारणा में है। यहूदी परम्परा में वाचिक व लिखित दोनों समान महत्त्व रखती है। कोवर्ड ने भर्तृहरि के श्रुतिविषयक विमर्श की देरिदा के संदर्भ में मीमांसा की है। कोवर्ड का ध्यान कदाचित् *वाक्यपदीयम्* के पहले काण्ड की बीसवीं कारिका की ओर नहीं गया, जिसमें भर्तृहरि कहते हैं कि वाणी के इस परम रूप में अक्षरों की स्मृतियों के चिह्न प्रतिबिम्ब की तरह झलकते हैं।[43] रघुनाथ शर्मा ने अपनी *अम्बाकर्त्री टीका* में यहाँ चिह्न का अर्थ लिपियाँ ही किया है। पर ये लिपियाँ कलम उठा कर काग़ज़ पर लिखी इबारत नहीं हैं, ये चित्त में संस्कार के रूप में अंतर्निहित लिपियाँ हैं।

देरिदा मानते हैं कि पाठ के बाहर कुछ नहीं है। भर्तृहरि के यहाँ शब्दब्रह्मन् के अतिरिक्त अन्य सत्ता नहीं है। भर्तृहरि की तरह वे भाषा को अनादि मानते हैं। दोनों भाषा में शब्द और अर्थ के पार्थक्य की अंतर्निहित शक्ति को स्वीकार करते हैं, भर्तृहरि इसीलिए परा वाक् की बात नहीं करते, वे भाषा के सूक्ष्मतम रूप पश्यंती तक ही अपने विवेचन को सीमित रखते हैं, पश्यंती अविभागा होते हुए भी ऊपर उल्लिखित मयूराण्डरसन्याय से सारे विभागों की उत्स है।

देरिदा के अनुसार मनुष्य के भीतर भाषा के सृजन की आंतरिक शक्ति है, जिसे उन्होंने साइकिक इंप्रिंट या ट्रेस कहा है। भर्तृहरि इस स्थिति को मयूराण्डरसन्याय से समझाते हैं। काल शब्दब्रह्म की शक्ति है, उसके कारण विवर्त होता है। कोवर्ड भर्तृहरि के कालशक्ति के स्वरूप को अद्वैत वेदांत की माया से तुलना करते हुए कहते हैं काल आवरण की अपेक्षा विक्षेप अधिक करता है, माया का कर्तृत्व आवरण पर अधिक केंद्रित है।

विवर्त होते ही वस्तुएँ एक क्रम में प्रतीत होने लगती हैं। अन्यथा क्रमहीन अनादि अवस्था है। यह क्रम कालशक्ति के कारण जन्म लेता है।

---

[42] 'प्रोसीडिंग्ज़ ऑफ़ फर्स्ट इंटरनेशनल कांफ्रेंस आन भर्तृहरि', भागवत शास्त्री के लेख में उद्धृत : 62.

[43] यत्र वाचो निमित्तानि चिह्नानीवाक्षरस्मृतेः।
शब्दपूर्वेण योगेन भासन्ते प्रतिबिम्बवत्॥ वही, 1.20॥

देरिदा और भर्तृहरि दोनों के लिए अंततः वास्तविकता भाषा में और भाषा के द्वारा है। यह भाषा शब्द या वाक् कही गयी है, जो उच्चरित शब्द (नाद) से अलग है। जब कुछ भी नहीं था , तब शब्द था, कुछ नहीं रहेगा तब भी शब्द रहेगा। इस शब्द या वाक् से अलग और कोई सृष्टि या संसार नहीं है। शब्द ही चेतना है, शब्द का अनुभव चेतना है। अतः शब्द मनुष्य का स्वात्म और स्वात्मविमर्श दोनों है। भर्तृहरि शब्द के परे अन्य किसी परमतत्त्व की बात नहीं करते। द्रष्टा, दर्शन व दृश्य सभी वही है। उपनिषदों की नेति नेति की शब्दावली तथा नागार्जुन की अपोहवादी पदावली का आश्रय ले कर भर्तृहरि शब्द की इस परमावस्था का स्वरूप बताते हुए कहते हैं कि वह है यह नहीं कहा जा सकता, नहीं है यह नहीं कहा जा सकता, एक है— यह भी नहीं कहा जा सकता, अलग-अलग है— यह भी नहीं कहा जा सकता, मिला हुआ है यह भी नहीं और विभक्त है यह भी नहीं कहा जा सकता। वह नहीं है और है भी। वह एक है और अलग-अलग भी है। वह एक हो कर अनंत शब्दार्थ संबंधों में व्यक्त होता है। वही दृश्य, दर्शन, द्रष्टा और दर्शन का प्रयोजन भी बनता है। जैसे सोने से बनने वाले सारे गहने एक ही स्वर्णतत्त्व के विकार हैं, उसी तरह सारी ध्वनियाँ इसी एक के विकार हैं, विकार को निरस्त करने पर वही एक तत्त्व रह जाता है।[44] व्याकरण का ज्ञान इस निरस्तीकरण और उसके द्वारा मुक्ति का पथ प्रशस्त कर देता है। व्याकरण को जीवन दर्शन बनाने की भर्तृहरि के इस उपक्रम के देरिदा कहीं कहीं सहयात्री लगते हैं, तभी तो उन्होंने अपने एक ग्रंथ का नाम *ऑन गैमाटोलॅजी* रखा है। देरिदा भाषिक प्रक्रिया को तीन रूपों में व्याख्या करते हैं— साइन, सिग्निफ़ाइड तथा सिग्निफ़ायर। भर्तृहरि के दर्शन में ये स्फोट, अर्थ तथा ध्वनि (नाद) हैं।

भर्तृहरि की स्फोट और ध्वनि की अवधारणाओं का साम्य विट्गेंस्टाइन के प्रपोज़ीशन तथा प्रपोज़ीशनल साइन के साथ देखा जाता है।[45] विट्गेंस्टाइन शब्द की अखण्ड सत्ता मानते हैं, [46] वाक्य को भी एक अखण्ड इकाई के रूप में वे प्रकारांतर से स्वीकार कर लेते हैं।[47] विट्गेंस्टाइन भी भर्तृहरि की भाँति मानते हैं कि उच्चरित शब्द को अपने आप में अलग और पर्याप्त नहीं समझा जाना चाहिए, वह किसी प्रतिज्ञप्ति (प्रपोजीशन) के संदर्भ में ही सार्थक बनता है।

विट्गेंस्टाइन ने चित्रकला का दृष्टांत ले कर भाषा के चित्रसिद्धांत की परिकल्पना उस समय की जब वे क्राकाउ में तोप टुकड़ी के साथ काम करते थे और उन्हें सर्चलाइट चलाने का काम सौंपा गया था। विट्गेंस्टाइन ने माना कि 'वस्तुस्थिति का वर्णन करने वाली प्रतिज्ञप्तियाँ वस्तुतः उसका चित्र होती

---

[44] न तदस्ति न तन्नास्ति न तदेकं न तत्पृथक्।
न संसृष्टं विभक्तं वा विकृतं न च नान्यथा॥
तन्नास्ति विद्यते तच्च तदेकं तत्पृथक्पृथक्।
संसृष्टं च विभक्तं च विकृतं तत्तदन्यथा।
तस्य शब्दार्थसंबन्ध- रूपमेकस्य दृश्यते।
तद्दृश्यं दर्शनं द्रष्टा दर्शने च प्रयोजनम्॥
विकारापगमे सत्यं सुवर्णं कुण्डले यथा।
विकारापगमे सत्यां तथाहुः प्रकृतिं पराम्॥
वाच्या सा सर्वशब्दानां शब्दाश्च न पृथक्ततः।
अपृथक्त्वे च संबन्धस्तयोर्नानात्मनोरिव॥
आत्मा परः प्रियो द्वेष्यो वक्ता वाच्यं प्रयोजनम्।
विरुद्धानि यथैकस्य स्वप्ने रूपाणि चेतसः॥
अजन्मनि तथा नित्ये पौर्वापर्यविवर्जिते॥
तत्त्वे जन्मादिरूपत्वं विरुद्धमुपलभ्यते॥ 3,2.12-18 ॥

[45] *भर्तृहरि ऐंड विट्गेंस्टाइन* में एम. श्रीमन्नारायण मूर्ति का लेख : 168-69 .

[46] 'अ वर्ड ऑर अ नेम इज़ अ प्रिमिटिव साइन, विच कैन नॉट बी डाइसेक्टिड' (ट्रैक्टैटस, 3.26) *भर्तृहरि ऐंड विट्गेंस्टाइन* में शिवजीवन भट्टाचार्य के लेख : 34) में उद्धृत.

[47] वही : 35.

है' तथा 'जैसे रेखांकन या चित्रांकन वास्तविकता का द्योतित करता है, वैसे ही प्रतिज्ञप्ति भी उसका तार्किक रूप से चित्रांकन करती है।' [48] भाषा का अवबोध चित्र के रूप में होता है।[49] इसी की उलट प्रक्रिया बताते हुए भर्तृहरि स्वयं चित्रनिर्माण का दृष्टांत देते हैं, जिसकी चर्चा ऊपर की गयी है।

पर भर्तृहरि प्रातिभ ज्ञान की प्रामाणिकता व संदिग्धता को ले कर जिस तरह आश्वस्त हैं, विट्गेंस्टाइन नहीं हो सकते। वे इंट्यूशन को ले कर प्रश्न करते हैं— 'यदि इंट्यूशन भीतर की आवाज़ है, तो मुझे पता कैसे चलेगा कि मुझे इसका पालन करना ही चाहिए, और यह भी मैं कैसे जानूँगा कि यह मुझे गुमराह नहीं करेगी। यह मेरा सही मार्गदर्शन भी कर सकती है, और ग़लत भी। हम इंसान होते ही ऐसे हैं।'[50]

नकारात्मक सत्ता या अभाव के भाषा में अनुभव की प्रामाणिकता भर्तृहरि और विट्गेंस्टाइन दोनों स्वीकार करते हैं। हमारी रोज़मर्रा की दुनिया में जिस वस्तु का अस्तित्व किसी भी तरह सम्भव हो ही नहीं सकता, वहाँ हम उसे किसी भी तरह सम्भव कर के दिखा नहीं सके। पर भाषा में उसे हम बता सकते हैं। विट्गेंस्टाइन कहते हैं— 'सकारात्मक प्रतिज्ञप्ति अनिवार्यतः नकारात्मक प्रतिज्ञप्ति के अस्तित्व की पूर्वस्वीकृति होती है। इसका व्युत्क्रम भी सत्य है।'[51]

भर्तृहरि के लिए व्याकरण मुक्ति का सीधा सच्चा उपाय है। विट्गेंस्टाइन यह तो स्वीकार करते हैं कि व्याकरण दिमाग़ के उलझाव को मिटा देता है और इसे निर्मल बना देता है, पर किसी अध्यात्मविद्या के रूप में देखा जाना पसंद नहीं कर सकते।[52] देरिदा ज़रूर भाषा के माध्यम से अध्यात्म की ओर उन्मुख लगते हैं।

हमारे दृश्यमान जगत् का भाषा में निर्मित जगत् से क्या संबंध है? भर्तृहरि और विट्गेंस्टाइन दोनों यह मानते लगते हैं कि भाषा के अलावा इस दृश्यमान जगत् को समझने समझाने का और कोई ज़रिया है ही नहीं। इसलिए जो संसार हम देख रहे हैं, वह भी भाषा में और भाषा से है।

रामानुज देवनाथन् ने भर्तृहरि के भाषादर्शन की तुलना ज़ाक लकाँ के रियल के सिद्धांत से की है। रियल अपृथक् व एक है, इसके प्रतीकात्मक रूप पृथक्-पृथक् हो सकते हैं, वे एक को विभाजित करने की प्रक्रिया आरम्भ कर देते हैं। शब्द का संसार ही पदार्थों के संसार को जन्म देता है। रियल हमारी भाषा से परे है। लकाँ रियल को एक असम्भव तत्त्व के रूप में भी परिभाषित करते हैं। ये सारे विवरण भर्तृहरि के शब्दब्रह्मवाद से मिलते-जुलते लगते हैं। भाषा और उससे निर्मित जगत् को ले कर भर्तृहरि ने जो दर्शन दिया, उसका साम्य सहज रूप में आज के अनेक विचारकों के साथ बैठता है।

संदर्भ

डॉ. तंद्रा पटनायक (1994), *शब्द— अ स्टडी ऑफ़ भर्तृहरिज़ फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ लेंग्वेज,* डी.के. प्रिंट वर्ल्ड, दिल्ली.

देवेंद्र नाथ तिवारी (2008), *भर्तृहरिज़ फ़िलॉसफ़ी,* आईसीपीआर, दिल्ली.

मिथिलेश चतुर्वेदी (सं.) (2009), *भर्तृहरि : लेंग्वेज, थॉट ऐंड रियलिटी,* एमएलबीडी, नयी दिल्ली.

राधावल्लभ त्रिपाठी (2014), *धर्मकीर्ति,* साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली.

---

48 *कल्चर ऐंड वेल्यू,* अनुवादकीय निवेदन : 19.

49 *भर्तृहरि ऐंड विट्गेंस्टाइन* में एम. श्रीमन्नारायण मूर्ति का लेख :171.

50 'फ़िलासाफ़िकल इन्वेस्टिगेशंस - विट्गेंस्टाइन' : 213, *भर्तृहरि ऐंड विट्गेंस्टाइन* में लछमन एम. खूबचंदानी के लेख : 112 में उद्धृत.

51 'द पॉज़िटिव प्रपोज़ीशन नेसेसरिली प्रिसपोज़ द एक्ज़िस्टेंस ऑफ़ निगेटिव प्रपोज़ीशन ऐंड द वाइस वर्सा, *ट्रेक्टेटस लोजिको-फ़िलोसोफ़िकस* : 5.5151 (3). *भर्तृहरि ऐंड विट्गेंस्टाइन* में के एम. श्रीमन्नारायण मूर्ति लेख : 174 में उद्धृत.

52 *भर्तृहरि ऐंड विट्गेंस्टाइन* में आर.सी.प्रधान का लेख : 157.

05radhavallabh:Layout 1 7/28/2017 5:00 PM Page 90

राधावल्लभ त्रिपाठी (सं.) (2016), *इण्डियाज़ इंटलेक्चुअल ट्रेडिशन एज़ एनविसेज़्ड थ्रू संस्कृत रिसोर्सेज़* (प्रोसीडिग्ज़ ऑफ़ नैशनल सेमिनार), साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली.

लुडविग विट्गेंस्टाइन (1977), *कल्चर ऐंड वैल्यू,* अनु. : अशोक वोहरा, भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नयी दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 1978.

लुडविग विट्गेंस्टाइन (1998), *ऑन सर्टेंटि,* लुडविग विट्गेंस्टाइन, अनु. : अशोक वोहरा, भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नयी दिल्ली.

वाक्यपदीयम्, भाग 1-3, व्याख्याद्वयोपेतम्, सं. रघुनाथ शर्मा, सं.सं.वि.वि, 1991.

वाक्यपदीयम्, तृतीयकाण्ड, *हेलाराजपुण्यराजकृतव्याख्या,* त्रिवेंद्रम्, 1942.

वाक्यपदीयम्, ब्रह्मकाण्डम्, पं. वेदानंदझाविरचितटीकासहित, मंदाकिनीसंस्कृतपरिषद्, दिल्ली, 2002.

वाक्यपदीये ब्रह्मकाण्डस्य समीक्षा, व्याख्या च— रामनारायणदास:, 2003.

वाक्यपदीयम् — प्रथम काण्ड, उमाशंकर शर्मा ऋषि, चौखम्भा भारती अकादेमी, 2015.

शिवजीवन भट्टाचार्य (सं.) (2002), *भर्तृहरि ऐंड विट्गेंस्टाइन,* साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली, पुन:मुद्रण 2009.

सत्यवती त्रिपाठी (2000), *भारतीय काव्यचिंतन में प्रतिभाविवेचन,* प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली.

सरोज भाटे और बोन्क्रोस्ट (सं.) (1993), *प्रोसीडिंग्ज़ ऑफ़ फ़र्स्ट इंटरनैशनल कांफ्रेंस ऑन भर्तृहरि.*

सुब्रह्मण्य अय्यर (1981), *भर्तृहरि का वाक्यपदीय—* अनु. रामचंद्र द्विवेदी, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर.